होटल का कमरा

२११

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

होटल का कमरा

होटल का कमरा

(कहानी-संग्रह)

डा० धीरेन्द्र वर्मा पुस्तक-संग्रह

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

भारतीय ग्रन्थ निकेतन
१३३ लाजपतराय मार्केट, दिल्ली-६

सूची-पत्रक

वाजपेयी, भगवतीप्रसाद, १८९९-

होटल का कमरा.

दिल्ली, भारतीय ग्रन्थ निकेतन, १९६६.

१४४ पृ. १९ सेंमी.

१. आख्या.

891.433 0152,3M99 भा. ग्रं. नि. १०

प्रकाशक : © भारतीय ग्रन्थ निकेतन,
१३३ लाजपतराय मार्केट,
दिल्ली-६

आवरण शिल्पी : पाल बन्धु

प्रथम संस्करण : १९६६

मूल्य : ३.५०

मुद्रक : राष्ट्रभारती प्रेस,
कूचा चेलान, दिल्ली-६

Hotel ka kamra by Bhagvati Parshad Vajpeyi (Novel) Rs. 3.50

उपन्यासकार : एक परिचय

"मेरा दूसरा उपन्यास मार्केट में आ चुका है। आपने नहीं देखा?"
"साहब, मैंने अपने इस उपन्यास में एक नया दर्शन पेश किया है।"
"मेरा कहानी-संग्रह छपने वाला है आप अवश्य पढ़ियेगा।"
"नई कविता लिखी है सुनाऊँ?"

अगर आपको साहित्य और साहित्यकारों से बहुत दूर का भी वास्ता पड़ा है तो आपने इनसे मिलते-जुलते वाक्य ज़रूर सुने होंगे। काफ़ी हाउस हो या टी हाउस, रेल का सफर हो या बस का सफर—साहित्यकार बनने का दावा करने वाला बहुत जल्दी ऐसी कोई-न-कोई बात कह बैठता है। हम दोस्तों में आज से तीन वर्ष पूर्व तक यह मज़ाक प्रचलित था कि छोटा या बड़ा, पिद्दी या पहाड़—हर साहित्यकार एक ढोल होता है। आप उसके पास बैठे नहीं कि उसने बजना शुरू कर कर दिया।

"आप वाजपेयी जी हैं।"—मोहल्ला कमेटी की एक मीटिंग थी जिसमें एक सज्जन ने इन शब्दों के साथ हमारा परिचय एक भारी आदमी के साथ कराया। बात आई-गई हो गई। कितने ही वाजपेयी, त्रिवेदी और चतुर्वेदी यू० पी० के हर मोहल्ले और गली में बसते हैं। मीटिंग लगभग तीन घण्टे चली, बहस और झड़प में हमारे बराबर बैठे उस व्यक्ति वाजपेयी ने भी गरमा-गरम हिस्सा लिया। फिर समाप्त होने के पश्चात् हम सब ने अपनी-अपनी राह पकड़ी। जिस घर में सभा हो रही थी उसके गृह-स्वामी ने दूसरे रोज हमसे कहा—"आप लोगों ने

कल वाजपेयीजी से विशेष बात नहीं की। कुछ तो साहित्य चर्चा होनी ही चाहिए थी।" हम चौंके। हम में से एक ने उत्तर दिया—"क्यों कोई खास बात तो थी नहीं, न कोई साहित्य की चर्चा छिड़ी और फिर उन महाशय से विशेष रूप से साहित्य की बात क्यों की जाती साहब।" उत्तर मिला, "वाह! आप सब तो साहित्य प्रेमी हैं, वाजपेयीजी अभी नये-नये यहाँ आये हैं, कोई-न-कोई बात किसी-न-किसी बहाने छेड़ी जा सकती थी।"

"आखिर कौन महाशय हैं यह वाजपेयी!"

"अच्छा, तो आप अभी तक समझे नहीं। यह थे भगवतीप्रसाद वाजपेयी।"

नाम सुनते ही हम चौंके, चौकन्ने हुए और एक दम चुप हो गये। आश्चर्य-मिश्रित खीझ भी हुई। हमारी थ्योरी को इस उपन्यासकार ने गलत सिद्ध कर दिया। हमारे मज़ाक के फार्मूले का जैसे उस व्यक्ति ने कस कर मज़ाक उड़ाया। तीन घंटे हमारे पास वह व्यक्ति बैठा रहा और भूले से भी उसने यह आभास न होने दिया कि वह हिन्दी का जाना-माना उपन्यासकार है। छत्तीस उपन्यासों को पैदा करने वाला बड़ी शक्ति से कुछ भी कहे-सुने बगैर बहस में भाग लेता रहा। अभी कुछ ही दिन पूर्व उनका नया उपन्यास 'सपना बिक गया' साप्ताहिक हिन्दुस्तान में धारावाहिक रूप से छपा था। उसको लेकर हम दोस्तों में चर्चा भी हुई थी। ऐसा लेखक चुपचाप बिना-समझाये-जताये इतनी देर पास बैठ कर भी उठ गया—ऐसा प्रतीत हुआ जैसे कोई चोर मंडली में आकर बैठे, हम न पहचानें और पकड़ से निकल जाये।

इस प्रकार वाजपेयीजी से हमारा परिचय आश्चर्य की नींव पर हुआ। तब से आज तक रोज का उठना-बैठना है, चाय और गप-शप है। पर इस महान् उपन्यासकार को हमने कभी अपनी शहनाई आप बजाते नहीं सुना। यह अकेली बात इसका प्रमाण है कि यह व्यक्ति महान् उपन्यासकार तो है ही, पर इससे कहीं अधिक महान् मानव है।

दूसरा आश्चर्य वाजपेयीजी से घनिष्टता के एक वर्ष पश्चात् हुआ। हमारी मंडली में हर दूसरे-तीसरे कोई-न-कोई कवि भी आ पधारते थे। और समय-असमय, बात बिना बात अपनी रचनाओं से बोर भी करते थे। उन महोदय के जाने के पश्चात् हम अच्छा-खासा मज़ाक भी उड़ा लेते थे। पर एक दिन हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब वाजपेयी जी के घर उनकी अलमारी में हमने एक कविता-संग्रह देखा और कवि थे—स्वयं भगवतीप्रसाद वाजपेयी। इस तरह हमें इस व्यक्ति ने दूसरी चोट दी। हमने थ्योरी में कुछ संशोधन किया और मजबूर होकर उस उपन्यासकार और कवि को बाकी सब साहित्यकारों की पंक्ति से अलग और ऊपर बैठा दिया। क्या मालूम आप सफर में जिस व्यक्ति के समीप बैठे हों वही भगवतीप्रसाद वाजपेयी हों। वह अपना परिचय स्वयं नहीं देंगे। इसलिए उनका सबसे अच्छा परिचय उनका चित्र है जो अन्य स्थान पर शोभित है। इन्हें पहिचान लीजिये, कहीं ऐसा न हो कि साहित्य का यह कन्हैया आपके साथ घण्टों बातें करता रहे और फिर बिना पहिचाने हाथों से निकल जाय।

—कैलाशनाथ सेठ

क्रम

होटल का कमरा

मैं मौन हूँ, चिरकाल से मौन हूँ और विधाता के अमिट विधान की भाँति मेरा मौन रहना निश्चित है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि मेरे पास कहने को कुछ नहीं है। जन्म के समय से ही मेरी वाणी रुकी हुई है। गौतम नारी की भाँति मैं जड़ बना दिया गया हूँ। मैं सब-कुछ सुनता हूँ, सब-कुछ देखता हूँ, लेकिन कुछ कह नहीं सकता। सब-कुछ टुकुर-टुकुर देखते रहना ही मेरे भाग्य में लिखा है। आज तक मैंने किसी की बुराई नहीं की। आज तक मैंने कोई शत्रु नहीं बनाया। आप मेरे यहाँ आकर चाहे जितनी देर बैठिए और चाहे जो कुछ कीजिये, मैं किसी से कुछ न कहूँगा। एक की बात दूसरे से कह देना मेरे लिए पाप है। यह बात दूसरी है कि प्रबन्ध की शिथिलता से मेरा स्वरूप—मेरी वेशभूषा—देखकर आप अनुमान लगा लें कि कल कौन-कौन से लोग मेरे यहाँ आये, बैठे, सोये और अपने गुणों का परिचय दे गये। लेकिन ऐसा सम्भव कम है। मेरी देख-रेख नित्य होती रहती है। पलँग की चद्दर, मेज़ का आवरण और तिथि-पत्रावली का पन्ना नवीन सूर्योदय की भाँति नित्य बदल जाता है। सफ़ाई दिन में दो बार हो जाती है। लेकिन मैं अपना दुःख किससे और कैसे प्रकट करूँ? हर सफ़ाई के बाद मैं यह सोचने लगता हूँ कि क्या मेरा जन्म इसीलिए हुआ है कि जो लोग मेरे यहाँ आयें, मुझे गन्दा करें? और मैं कभी उनसे यह कह भी न सकूँ कि आप यह क्या कर रहे हैं! कभी आपने सोचा कि मेरी स्थिति कितनी दयनीय है? अच्छा जाने दीजिये। मैंने कुछ सोचा है। पहले उसे सुन

लीजिये। मुझे कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि यह सब भी जीवन का ही लक्षण है। नित्य ही देखता हूँ कि जहाँ स्वच्छता के श्वेतचरण मेरी सीमा के भीतर प्रविष्ट हुए, वहीं मानो उसके पीछे-पीछे ही मलिन-वसना मलिनता भी मुँह फुलाए आ धमकी। स्वच्छता का अस्तित्व धीरे-धीरे मन्द पड़ता गया, क्योंकि मलिनता खूब उछल-उछलकर, नाच-नाचकर अपने पैर फैलाती गई। अन्त में जब स्वच्छता के लिए सौत का यह व्यवहार असह्य हो गया, तो उसे अनुशासन से काम लेना पड़ा। परिणाम यह हुआ कि झाड़ू मारकर मलिनता को बाहर खदेड़ दिया गया।

अब आप देखें कि मलिनता और स्वच्छता में संघर्ष की यह स्थिति जीवन के कितने निकट है! स्वच्छता धैर्य के साथ क्षण-भर भी स्थिर नहीं रह पाती और मलिनता का व्यापार तुरन्त आरम्भ हो जाता है। मेज़ पर राखदानी रक्खी है। लेकिन मनुष्य की भूल को क्या कीजिएगा! जो साहब कमरे में विराजमान हैं, वे बहुत पढ़े-लिखे और एक सभ्य नागरिक हैं, फिर भी सिगरेट पीते हुए, उसकी राख, फ़र्श पर ही गिरा रहे हैं। बतलाइये, अब आप इसको क्या कहेंगे? जीवन की इस स्थिति को देख-देखकर मैं तो अक्सर आश्चर्य में पड़ जाता हूँ। प्रश्न-पर-प्रश्न मेरे मन में उभरने लगते हैं। मैं सोचने लगता हूँ कि आज की दुनियाँ में सफ़ाई की अपेक्षा गन्दगी का ही मूल्य अधिक है, स्थान अधिक हैं, मान और महत्त्व भी अधिक है। और अगर आप मुझे क्षमा करें तो मैं कहूँगा कि गन्दगी की छाप मनुष्य के मुँह पर चाहे न भी हो, पर उसके मन पर तो निस्सन्देह अधिक है। मन में आता है कि जो कोई भी मेरे सम्पर्क में आये और जब कभी वह अपने मन की गन्दगी प्रकट करे, मैं उसी समय बोल दूँ। मैं उससे साफ़-साफ़ कह दूँ—यह बुरा है, यह अनुचित है, यह पाप है। लेकिन फिर यही सोचकर, बल्कि मन को मसोस-मसोसकर रह जाना पड़ता है कि सब-कुछ देखते रहना ही मेरे भाग्य में लिखा है—मैं बोल ही कैसे सकता हूँ! पर ऐसी बात नहीं है कि मेरे भाग्य की रेखाएँ मन्द और धूमिल ही हों। यदि मेरे दुर्भाग्य के दोष

अमिट हैं, तो मेरे सौभाग्य का श्रेय, मेरे गौरव की उच्चता भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। मैं आज की सभ्यता की एक अमिट देन हूँ। साधारण नगरों में चाहे मेरी उपयोगिता केवल प्रवासीवृन्द के लिए ही हो, किन्तु बड़े और विशाल नगरों में मेरा उपयोग नागरिकता का एक अंग बन गया है। समाज के कठोर नियन्त्रण से जिनका जीवन-स्रोत ही सूखने लगता है, वे अपनी ग्रन्थियाँ सुलझाने अथवा आनन्द के मन्द-मन्द झकोरे लेने, अन्तर की वेदना आँसुओं की भाषा में व्यक्त करने अथवा भविष्य का कर्म-पथ निश्चित करने का जब कहीं अवसर नहीं पाते, तब अन्त में मेरा द्वार खटखटाने पर विवश होते हैं और कभी-कभी तो ऐसी घटनाएँ भी हो जाती हैं, जो भटकते-भटकते एक दम से थम जानेवाले पथिकों की जीवन-धारा ही बदल देती है।

कई वर्षों की बात हुई। एक बार मेरे यहाँ एक ऐसी युवती आ गई, जिसके गीले केश बिखरे हुए थे। एक हाथ में गीली साड़ी थी, दूसरे में तौलिया। स्पष्ट था कि वह बाथरूम से स्नान करके आ रही है। भीतर आते ही उसने किवाड़ में लगा हुआ काँच का हैंडिल घुमाया और द्वार बन्द कर लिया। लेकिन जब द्वार बन्द हो गया, तब उसे कुछ ऐसा मालूम हुआ कि बाहर से भी कोई ताला लगा रहा है। उसने किवाड़ों को जोर से खटखटाया। लेकिन तब तक ताला लगानेवाला जा चुका था। वह हैरान हो उठी कि यह बात क्या है ! क्या मेरे साथ कोई जाल रचा गया है ? वह पसीने से भीग गई। कमरे में अन्धकार छाया हुआ था। इसलिए उसने बिजली का बटन दबा दिया। कमरा प्रकाश से जगमगा उठा। लेकिन प्रकाश हो जाने पर उसने देखा कि यहाँ यह नवयुवक कौन आ गया ! चद्दर भी मेरा नहीं है। ओः, तो मैं भूल से दूसरे कमरे में आ गई। अनर्थ हो गया। कुशल इतनी ही है कि नव-

युवक सो रहा है। उसके हृदय की गति तीव्र हो गई—यह क्या होनहार है ? यदि वह नवयुवक जाग पड़े तो। तो वह पूछेगा कि तुम कौन हो ? क्या तुम ?···पर तुम यहाँ कैसे ? क्या तुम्हारी मन्शा यह थी कि···?

सोचते-सोचते वह काँपने लगी। कोई दूसरा अवसर होता, तो उसे अपनी ही इस कल्पना पर हँसी आ जाती। लेकिन उस समय वह स्वयं हँसी का पात्र बन गई। ऐसा जान पड़ता था कि उसका दम घुटा जा रहा है। इतने में उस युवक ने करवट ले ली। लेकिन उस युवती के मन में नाना प्रकार की कल्पनाओं के बवंडर आ-जा रहे थे। वह सोच रही थी—'ऐसा न हो कि कहीं मुझे आत्मघात करना पड़े !' इसी अवस्था में लगभग आधा घण्टा बीत गया। पर उस युवती के लिए वह आधा घन्टा जैसे एक युग के समान बन गया था। इतने में द्वार बन्द करनेवाला पूर्व निश्चय के अनुसार आ गया। युवती ने घटना की सारी कथा कहकर उससे क्षमा माँगी। युवती का दुर्बल मन अब भी काँप रहा था। वह अपने कमरे की ओर जाने लगी। पर इतने में वह सोया हुआ-सा नवयुवक बोल उठा—'अब जाती कहाँ हो रंजना ? ठहरो, बात सुन लो।'

रंजना हक्की-बक्की रह गई। अरे यह तो उसका पूर्व परिचित सुनील है ! वह फिर लौट पड़ी। क्षण-भर पहले जिसके मुख पर भय, आशंका और घबराहट का भाव था, अब वही विमल हास में परिणत हो गया।

वह बोली—'मैं तुम्हें खोजते-खोजते हार गयी। लेकिन अब तो मिल ही गये। मैं अभी आती हूँ। जरा दम मार लूँ। मुझे तुम से बहुत-सी बातें करनी है। समझे ?'

ये दोनों साथी वर्षों के बिछुड़े हुए थे। जीवन के घटनाचक्र ने इन्हें बहुत दूर फेंक दिया था। पर उस दिन वे ऐसे मिले कि सदा के लिए एक बन गये।

इस प्रकार सभ्यता की नई पौध के लिए मैं एक मिलन हूँ। मैं आज के पीड़ित, त्रस्त और अतृप्त मानव के अन्तर्मन का दर्पण हूँ। मेरे यहाँ आप सामाजिक नियन्त्रण की सीमा-रेखाओं से सर्वथा मुक्त और

स्वच्छन्द हो जाते हैं। यहाँ कुछ भी खाइये, कुछ भी पीजिये, अपने सार्थी और साथी से चाहे जिस तरह हँसिए-बोलिये, मन में आये तो गाइये भी कुछ; चाहे अपने मन से खिलवाड़ कीजिये, चाहे समाधिस्थ हो जाइये, या चाहे तो अन्तरिक्ष में लीन होकर पुनर्जन्म की तैयारी ही कर दीजिये, अपने आपको छोड़कर कोई आपको मना नहीं करेगा। हाँ, दो शर्तों का पालन आप को करना पड़ेगा। एक तो यह कि सामाजिक शान्ति में आप वाधा न डालिये और दूसरी यह कि पैसे की कमी कभी प्रकट न होने दीजिये। बस युग आपका है और हम सब आप के लिए पीढ़ी-दर-पीढ़ी के ताजमहल।

कभी-कभी भागकर आये हुए प्राणियों, गुप्तचरों और क्रान्तिकारियों के जीवन का भी थोड़ा-बहुत परिचय मुझे मिल जाता है। ऐसे भी दिन आते हैं जब देश की अमर विभूतियाँ मेरे यहाँ पदार्पण कर जाती हैं। मैंने वे दिन भी देखे हैं कि बाद में जिनको सार्वदेशिक सम्मान प्राप्त हुआ और जिनके तैलचित्र से हमारे स्वामियों ने अपनी बैठक सजाई, वे··· वे जब मेरे यहाँ ठहरे तब कोई उन्हें पहचान भी नहीं सका। किसी ने अपनी ओर से एक कप चाय के लिए भी उनको न पूछा। मालूम नहीं वे कितनी दूर से आये थे और कितने थके हुए थे। उनके पैर कुछ-कुछ धूल-धूसरित थे। उनके पैरों में पड़े हुए छाले यह स्पष्ट बता रहे थे कि उन्होंने पहाड़ी जंगलों की पैदल यात्रा की है। आते-ही-आते उन्होंने कपाट बन्द कर लिये। वे पलंग पर लेटे और तुरन्त सो गये। कुछ देर बाद नौकर यह पूछने को आया भी कि वे क्या खाना पसन्द करेंगे, पर मुझे कुछ ऐसा जान पड़ा कि वे जितने भूखे हैं, थके उससे कहीं अधिक हैं। वे इतमीनान की एक नींद भर चाहते हैं। इसलिए जब नौकर ने किवाड़ खटखटाये, तब मैंने मूक भाषा में यह कहकर उसको विदा कर दिया कि मेरा बुलबुल सो रहा है, शोरगुल न मचा।

पर यकायक पाँच बजे उनकी नींद उचट गयी। आँखें जो खुलीं,

तो यह जानकर प्रसन्नता की एक झलक उनके मुख पर दौड़ गई कि उनका दायाँ हाथ अब भी चेस्टर के अन्दर पड़ी पिस्तौल पर स्थिर है।—वे तुरन्त उठे और ठहरने का हिसाब करके चल दिये। घंटे-भर बाद देखता हूँ, पुलिसवान आ पहुँचा और पूरा होटल घेर लिया गया। हर एक कमरा छान डाला गया।—पर सिंह की सन्तान कहीं इस तरह पकड़ में आती है! वर्षों इस घटना की चर्चा रही। लोग हाथ मल-मलकर रह गये कि पराधीनता की बेड़ियाँ काटनेवालों का सरदार हमारे यहाँ ठहर गया और हम उसका कुछ भी स्वागत न कर सके। तब मैंने मौन भाषा में कह दिया—'तुम तो रुपये को ठहराते हो। मनुष्य को ठहराना तुम क्या जानो ?' पर इस घटना से और भी एक बात स्पष्ट होती है। वह यह कि संसार में मनुष्य के प्रकट रूप की चाहे जितनी महिमा हो, किन्तु उसके गुप्त रूप के आगे वह तुच्छ है। संसार वर्तमान का उतना मान कभी नहीं करता, जितना अतीत का। तात्पर्य यह कि जो सुलभ है, वह महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण तो वह है जो दुर्लभ है। और कदाचित मेरा महत्त्व भी इसीलिए है कि मैं दुर्लभ को सुलभ बनाने का एक महँगा साधन हूँ। ईश्वर की इस अनोखी सृष्टि में तरह-तरह के व्यक्तित्व पड़े हुए हैं।

इस समय मुझे एक ऐसे व्यक्ति की याद आ रही है जिसे मैं आजीवन भूल न सकूँगा। वे मेरे यहाँ कई दिन ठहरे थे। वर्ण तो उनका श्याम था, लेकिन आँख बड़ी-बड़ी थीं। बदन की छरहरी वेष-भूषा में अभिनेता और तबियत के राजकुमार। नाम था उनका विश्वनाथ। उनके पास अधेड़ उम्र के एक सज्जन बहुत आते-जाते थे। बल्कि एक प्रकार से वे उनके मित्र ही थे। अच्छा-सा नाम था—वीरेश्वर। पर वे उन दिनों कुछ बेकार-से थे। उनकी वेषभूषा में विश्वनाथ जैसा बाँकापन न था। एक दिन की बात है, विश्वनाथ पलँग पर बैठा हुआ था। पीठ की ओर कई तकिये रखे हुए थे। पास ही महाशय वीरेश्वर विराजमान थे। धीरे-धीरे बातें बन्द हो गईं और ऐसा प्रतीत हुआ कि

विश्वनाथ की आँखें झपक रही हैं। इतने में वीरेश्वर का हाथ विश्वनाथ के कुरते की जेब पर जा पड़ा। टटोलकर देखा—सौ-सौ के नोट थे चार। पर वीरेश्वर की हिम्मत न पड़ी कि चारो उड़ा दे। इसलिए उसने उसमें से एक ले लिया। बाक़ी तीन छोड़ दिये। इसके बाद चाय आयी, दोनों ने चाय पी। वीरेश्वर ने सिगरेट के भी कश लिये। अन्त में जब वह चलने लगा, तो विश्वनाथ कुछ नहीं बोला। पर जब वीरेश्वर चिक उठाकर जाने लगा, तो विश्वनाथ ने कह दिया—'सुनो वीरेश्वर, जान पड़ता है आजकल तुम बेकारी के कारण कुछ ज़्यादा कष्ट में हो। अगर ऐसी बात है तो तुमने मेरी जेब से सौ का एक ही नोट क्यों निकाला ? ये लो, एक और लेते जाओ।' इस पर वीरेश्वर ने विश्वनाथ के पैर थाम लिये। वह रो पड़ा। रो-रोकर उसने विश्वनाथ को बतलाया कि मेरा नैतिक पतन इस सीमा तक हो चुका है कि चोरी अब मेरे लिए अपराध नहीं, पेशा हो गया है। लेकिन अब चाहे मैं भूखों मर जाऊँ, पर यह कर्म कभी न करूँगा। इस घटना से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि पतित-से-पतित मनुष्य के अन्दर एक अहंकार—एक स्वाभिमान—होता है। दुनिया के आगे वह चाहे जितना गिर जाय, पर अपने साथी के आगे गिरना उसे स्वीकार नहीं होता।

विश्वनाथ की उदारता ने जब वीरेश्वर के अहंकार को चुनौती दी, तब उसका हृदय हिल गया। वह अपने को छिपा न सका। आज मैं भी अपना कुछ छिपाऊँगा नहीं। जो कुछ मैंने भोगा है, सब कह डालूँगा। आप जानते हैं—चोर, बदमाश, जुआरी, व्यापारी, सेठ, अफ़सर, शिक्षक, डॉक्टर, वकील, कलाकार, नर्तकी और वैश्या कोई भी हो, ठहरने का निषेध मेरे यहाँ किसी के लिए नहीं है। व्यवहार सबके साथ मुझे एक-सा करना पड़ता है। मैं अपना क्रोध, क्षोभ, उत्साह, हर्ष और विषाद कभी कुछ प्रकट नहीं कर सकता। न मैं रो सकता हूँ, न गा सकता हूँ। तो क्या मेरा सिर नीचा इसीलिए है कि मैं मौन रहता हूँ ? और चूँकि मौन रहता हूँ, इसीलिए किराये पर उठता हूँ ? फिर किराये की दर भी

मेरी आवश्यकता और अवसर के अनुसार बदलती रहती है। तो क्या मैं केवल उपभोग के लिए बनाया गया हूँ ? मनुष्य की सारी दुर्बलताओं का भार अपने कम्पित वक्ष पर लादे हुए इस तरह कब तक मैं चलता रहूँगा, इसका कोई ठिकाना नहीं, कोई निश्चय नहीं। हत्याएँ मेरे सामने होती हैं, ज़हर के प्याले मेरे सामने पिलाये जाते हैं। लज्जाहरण की मैं कमाई खाता हूँ। फिर भी कभी मुँह नहीं खोल सकता। मेरे चिरस्थिर अस्तित्व और चक्षुद्रष्टा व्यक्तित्व की यह कैसी विडम्बना है ! गहन अन्धकार से भरे, कर्दम और कलुष के वज्र, कठोर हाथों से, एक सभ्यताभिमानी मोहाक्रान्त मानव को, जब मैं वन्य-पशु की भाँति व्यवहार करता देखता हूँ, तब चुपचाप यही सोचता रह जाता हूँ कि प्रभू, तेरी लीला अपरम्पार है। यह कितना अच्छा हुआ, जो तूने मुझे जड़ बनाया। यदि कहीं चेतन बनाया होता, तो ऐसे नारकीय दृश्यों को देखने से पहले अपने मनुष्यत्व के गौरव के नाम पर, या तो ये आँखें ही फोड़ लेता, या मेरा हृदय ही अपने-आप फट जाता।

●

रेखाएँ

इस बार उसके मुख पर उल्लास न था। बीस-पच्चीस कुटुम्बी जनों के समक्ष जब मैं उसके घर पहुँचा तो क्या देखता हूँ कि वह अपने मुख पर हाथ रक्खे हुए शून्य आकाश की ओर देख रही है। मैंने जब उसका चरण-स्पर्श किया, तब वह एकाएक चौंक पड़ी। बोली—"अरे मिसिरजी आ गये!" आशीर्वाद-स्वरूप उसने कहा तो कुछ नहीं, लेकिन जान पड़ता है, मन में कुछ कहा था। उस समय वह घर के आंगन में एक ओर बैठी हुई थी। अब उठकर अपने कमरे में चली आयी।

उसका नाम है सरिता। जैसे सरिता की गति अबाध रहती है, वैसे ही इस सरिता की गति-विधि भी स्वच्छन्द रही है। अपने माता-पिता की एकलौती सन्तान होने के कारण उसने अभी तक जो चाहा, वही किया है। जैसे सरिता का नीर निर्मल रहता है, वैसे ही उसका स्नेह-सलिल सदा शुभ्र किंवा उज्ज्वल रहा है। सरिता जैसे अहर्निश एक-न-एक रागिनी छेड़े ही रहती है, वैसे ही इसके मनोमन्दिर में एक-न-एक आलाप प्रतिध्वनित बना रहता है। निदान, मेरी यह सरिता नाममात्र की सरिता हो, सो बात नहीं है। वास्तव में वह सरिता है।

इस घर में, जहाँ सरिता की ससुराल है, एक नया नाता आ मिला है। मेरे एक आत्मीय बन्धु का अब यहाँ विवाह हो गया है। वे जब कभी निमंत्रण में यहाँ आते हैं, तब मुझे भी साथ ले आते हैं। उनके विवाह की बरात में मैं भी सम्मिलित हुआ था। तब से इस घर से मेरा सम्बन्ध उत्तरोत्तर निकटतम होता गया। एक-आध बार मैं नहीं गया,

तो सरिता को इतना बुरा मालूम हुआ कि उसने उलहने से भरा हुआ ऐसा पत्र भेजा जिसे पढ़कर मैं तिलमिला उठा। अब तो विवश होकर मुझे आना ही पड़ता है। यहाँ के नाते से सरिता मेरी भाभी होती है।

पर सरिता के साथ यदि मेरा यही नाता होता, तब तो कोई बात न थी। किन्तु उसके साथ मेरे जीवन के इतिहास के अनेक पृष्ठ मुद्रित हुए हैं। आज जी न माना, तो अपने उसी अतीत इतिहास के पृष्ठ उलटने बैठ गया हूँ।

एक दिन ननिहाल के पड़ोस के एक घर में मेरा निमंत्रण था। आमंत्रित करनेवाली नारी को मैं मामी कहा करता था। माँ से सुना था, बचपन में इस मामी का मुझ पर बहुत स्नेह रहा है। ननिहाल के उस मुहल्ले के शिशुओं में सब से अधिक स्वस्थ होने के कारण यों साधारण रूप से सभी मुझसे स्नेह रखते थे; पर उन सब से अधिक प्यार मुझे इस मामी का ही प्राप्त था। वे मुझे अपने साथ खाना खिलाती थीं, झूला झुलाती थीं और मेरे इच्छानुसार खिलौने तथा मिठाइयाँ मँगाती रहती थीं। इस कारण मैं अपने घर न रहकर अधिकतर उन्हीं के घर रहता था। बचपन के बाद शिक्षा-मंदिरों में घूमते-घामते जब मैं युवक होकर लौटा और अपने मामा के यहाँ गया, तभी मुझे उक्त निमंत्रण मिला था। उस निमंत्रणवाले दिन की याद अभी तक ताज़ी है। कुछ ऐसी बात भी थी कि दस-बारह वर्ष के बाद मैंने वैसा प्रिय भोजन पाया था। मैं भोजन करता जाता था, मामी मेरे ऊपर पंखा झलती जाती थीं, बीच-बीच में वे अपनी बातें भी कहती जाती थीं।

खूब अच्छी तरह याद है, उन्होंने कहा था—"आज दस-बारह वर्ष के बाद तुम मेरे घर आये हो। तुम्हें क्या भला याद होगा कि मेरे घर के इसी आँगन में तुम वर्षों खेले हो। तुम्हें भला क्यों सुधि होगी कि मैंने अपने इन हाथों से तुम्हें कितने दिनों तक दूध-भात खिलाया है। यहाँ तक कि अनेक बार तुम, मेरे साथ, इतने विभोर होकर सो जाते रहे हो कि फिर उस रात बहुत चेष्टा करने पर भी अपने नाना के घर

नहीं गये।''

उस समय मैंने मामी से इन बातों के उत्तर में क्या कहा था, सो बिलकुल याद नहीं है। बस यही, इतना ही याद रहा गया है।

हाँ, तो उस दिन खूब अच्छी तरह से छककर भोजन कर लेने के अनन्तर मामी ने कहा—"सरिता, भैया को पान तो लगा दे।"

भोजन के बाद जब उस दिन वह पान लगाकर ले आयी, तब एक बार मैंने उसे देखा। ताजे फूलों का गजरा जैसे मदमाती सुगन्ध से निकट-वर्ती व्यक्ति की इच्छाशक्ति को अपनी ओर खींच लेता है, वैसे ही सरिता को देखकर मेरे मनका चोर मुझे कामना के वाहन पर बिठाकर उड़ा ले चला। ठगा-सा रहकर मैं देर तक यही सोचता रहा—कभी यही सरिता एक नन्हीं-सी झरना थी। आज तो···आज की बात बिल्कुल और है। आज तो यह वास्तव में सरिता है।

मामी ने कहा—"सरिता अब सयानी हो चली है। उसका ब्याह जल्दी ही करना है।"

सरिता मुझे पान देकर चली गई और मामी मुझसे इसी प्रसंग में बातें करने लगीं। कहाँ-कहाँ वर ढूँढ़ा गया है, कौन कैसा है, किसके यहाँ कितने में तय हो जायगा, यही सब वे बतलाती रहीं। प्रत्येक बात को मैं बड़े ध्यान से सुनता गया। अन्त में उन्होंने कहा—मैं तो असल में कुछ और ही चाहती थी रमेश, लेकिन मेरे मन की बात हो नहीं सकी। लोगों ने कहा—वे कुलीन और बड़े आदमी हैं, तुम्हारे यहाँ ब्याह करेंगे नहीं।

मामी के मुँह पर मेरी दृष्टि थी। मुद्रा से ऐसा कुछ मालूम हुआ, जैसे उनका स्वप्न-राज्य भंग हो गया है—उन्होंने जो कुछ सोच रखा था, उसे होने नहीं दिया गया है।

उस समय मैं क्या सोचता था, यह कैसे बताऊँ? इतना ही कह सकता हूँ कि मामी ने अपना यह मन्तव्य मुझसे प्रकट ही न किया होता तो अच्छा होता।

उस बार मैं अपने मामा के यहाँ एक मास रहा था। घर में कह आया था कि एक सप्ताह में आ जाऊँगा, परन्तु वह सप्ताह तो इतनी जल्दी उड़ गया, जितनी जल्दी नूरजहाँ के हाथ का बाज़ भी न उड़ा होगा। दिन भर मित्रों में अठिलाया करता। उस गाँव के निकट एक छोटी-सी नदी बहती थी। वह बड़ी मनचली थी। कभी-कभी जब एक-आध दिन पानी ख़ूब बरस जाता, तब उसका वक्ष प्रान्त बहुत विशाल हो जाता था। एक कूल से दूसरे कूल का क्षेत्र दसगुना बढ़ जाता था। वर्षा के दिनों में तो एक ही घण्टे में उसका रूप उग्र हो जाता था; फिर कम होते-होते दो-तीन दिन बाद पूर्ववत् हो पाता था। वह अपनी इस शोभा पर इतराया करती। उन दिनों प्रायः ऐसे अवसर भी आते थे, जब उस नदी को इस रूप में देखकर अनेक पथिक निराश होकर लौट जाते या फिर दूसरे मार्ग से जाकर अपने अभीष्ट स्थान पर अभीष्ट समय के बाद पहुँच पाते थे।

जाड़े के दिन थे। सरिता के सुविस्तृत कछार में गेहूँ और मटर के खेत डटे खड़े थे। उन हरे-भरे खेतों में सरसों और अलसी के फूलों की पंक्तियाँ देखते ही बनती थीं। वे कहीं ऊपर उठतीं, कहीं नीचे जातीं, यहाँ तक कि थोड़े ही अन्तर से आने-जानेवाले पथिक एक-दूसरे को देख भी न पाते थे। अपने मित्रों के साथ सरिता के इस कछार की बहार देखने मैं भी प्रायः जाता था। हम घण्टों उसके तट पर बैठे-बैठे बातें करते रहे हैं। बार-बार मेरी ओर देख-देखकर वह तत्काल उन बड़ी-बड़ी आँखों को शील और लज्जा के बीच में बैठाकर नतमुख हो जाती थी। वह कुछ ऐसा समय था कि मौन भाषा में मैं न जाने क्या-क्या उससे कहता रहता और मेरी कल्पना की भाषा में वह न जाने क्या-क्या उत्तर देती रहती।

कई दिनों के बाद एक बार अपनी पुस्तकों पर मेरी दृष्टि पड़ गयी तो मैं एक उपन्यास उठाकर पढ़ने लगा। कुछ ही पन्ने उलटने पर देखता क्या हूँ कि उसमें यत्र-तत्र पेंसिल के निशान बने हुए हैं। मैंने मामी से पूछा—

"यह पुस्तक क्या कोई पढ़ने को ले गया था ?"

मामी ने कहा—"हाँ, यह पुस्तक सरिता ले गयी थी। दूसरे दिन उसने पढ़कर लौटा दी थी। तुम उस दिन, जान पड़ता है, कहीं गये हुए थे रमेश। मैंने उसे ले जाने दिया था। क्या कहीं धब्बे पड़ गये हैं, या कोई पन्ना फट गया है ?"

मैंने कहा—"नहीं, मैंने यों ही पूछा।"

मामी से इतना कहकर मैं एकान्त में चुपचाप बैठ गया। उस समय मेरे हृदय की कैसी अवस्था थी, यह बतलाना कठिन है। इस तरह की बातें, जान पड़ता है, कहने की नहीं होतीं। वे तो हृदय के किसी एक कोने से ही उठती हैं और वहीं स्थिर होकर बैठ जाती हैं। कोई उन्हें छू नहीं पाता, कोई हृदय से उठाकर उन्हें अन्यत्र ले भी नहीं जा सकता। इसलिए कैसे कहूँ, उस समय मैं क्या-क्या सोचता था! समझ में नहीं आता, कैसे बताऊँ उन दिनों की दशा।

परन्तु जब यह डायरी मेरी सहचरी हो रही है, तब इसके हृदय-देश में अपनी इस लेखनी से मुझे सभी कुछ लिख देना है। फिर वह चाहे जैसा हो।

एकाएक पन्ना उलट गया—कहीं एक भी अक्षर लिखा हुआ नहीं मिला। जो कुछ मिला, वह केवल वही था—जिसे मैं ऊपर बता चुका हूँ। बस, कहीं-कहीं पर खड़ी लकीर खींच दी गई थी और कहीं कोई-कोई पंक्ति रेखांकित कर दी गई थी।

सच पूछिये तो उस समय इस बात ने मुझे बचा लिया। मैं सोचने लगा—यदि उसमें इतना भी न होता!

उपन्यास की भूमिका के जिन-जिन अंशों को उसने चिह्नित किया था, मैं उन्हीं अंशों को ध्यान से देखने लगा।

एक स्थान पर एक पैराग्राफ इस प्रकार मुद्रित था—'परन्तु हम जिसकी ओर कभी आँख उठाकर देखते भी नहीं, जिसे देख सकते भी नहीं, केवल सामाजिक शृंखला के कारण ही नहीं, स्वभाव किंवा-वय-

जनित शील के कारण भी । सम्भव है, हम उसे चाहते हों, क्योंकि उस दशा में हमारे मन में एक चोर घुसा रहता है । वर्षों हम उससे खुलकर बोल नहीं पाते, जी भरकर हँस नहीं पाते—यहाँ तक कि अवस्था-विशेष में उसके दर्शन भी नहीं कर पाते, वही हाँ वही एक दिन हमें मिल जाता है । प्रेम के खम्भों की ऊँचाइयों के दोनों छोर एक-दूसरे में इतने घुले-मिले रहते हैं कि दोनों हृदयों में बेतार के तार बिंधे रहते हैं ।'

मैंने देखा, इन शब्दों के सामने सरिता के हाथ की लाल पेंसिल से एक खड़ी लकीर बनी हुई है ।

आगे चलकर एक जगह छपा है—

हम जिसे अभी बिलकुल नहीं चाहते यही बात उस सुदूर भविष्य की प्रथम सीढ़ी है जिस पर पहुँचकर कभी हम उसे चाहेंगे और इतना अधिक चाहेंगे कि केवल उसी को चाहेंगे । बात यह है कि हम जिससे घृणा कर सकते हैं उससे प्रेम भी कर सकते हैं; अथवा यों समझिये कि जिससे प्रेम करने का हमें अधिकार है उससे घृणा करने का भी हमें पूरा अधिकार है । वरन् कहना होगा कि यह अधिकार तो हमें उससे भी पहले से है । तात्पर्य यह है कि जिससे घृणा की जा रही है उससे या तो कभी प्रेम किया जा चुका है या अब किया जानेवाला है । पर यह बात अब भी यह बतलाये बिना अपूर्ण रह जायगी कि मनुष्य बड़ा पाजी जीव है । कभी-कभी वह उपेक्षा के अन्दर से भी प्रेम करने लगता है ।

मैंने देखा, सरिता के हाथ की पेंसिल ने इन शब्दों के नीचे रेखा खींच दी है ।

मैंने पुस्तक ज्यों-की-त्यों बन्द करके रख दी । दोनों स्थानों में एक-एक कागज लगा दिया । एक-दो नहीं, अनेक वर्ष आये और चले गये । वसन्त आया और कोने-कोने में झाँककर चला गया । वर्षा की रिमझिम रातें इठलाती हुई आयीं और मुस्कराती हुई चली गयीं; पर यह पुस्तक ज्यों-की-त्यों रखी रही । क्या जाने सरिता ने और किन-किन स्थलों पर रेखाएँ खींची हों ! ऐसा जान पड़ने लगा, जैसे मेरे हृत्पिण्ड

को स्लेट मानकर सरिता ने उस पर पेंसिल से कुछ ऐसी गहरी रेखाएँ खींच दी हैं जो अमिट हैं, असीम हैं। कमी केवल यह है, मेरे हृत्पिण्ड की स्लेट पर पहले से कुछ लिखा हुआ नहीं है। इसलिए मैं सोचता हूँ कि ये बेचारी रेखाएँ अकेली पड़ गई हैं; कहीं गरम हवा के झोंके उन्हें मिटा न दें! जान पड़ता है, इसी डर से मेरी वह पुस्तक ज्यों-की-त्यों रखी रही है।

इस घटना के पश्चात् मैं मामा के यहाँ से चला आया। तब से फिर कभी वहाँ नहीं गया। जाने की आवश्यकता भी नहीं पड़ी।

इसके कुछ ही दिनों बाद एक दूसरे नाते से सरिता मेरी भाभी हो गयी। इस रूप में फिर कभी उससे बातें नहीं हुईं। भाई साहब के साथ मैं जब कभी जाता, सरिता देखने भर को मिल जाती थी। इतना ही बहुत था। भला बातों में रखा ही क्या है! एक प्रश्न यह भी तो है कि बातें क्या मौखिक ही होती हैं? मुख मुद्रा की रेखाएँ, आँखों की पुतलियाँ, आँसुओं के मोती, अधरों का कम्पन, क्या कभी कुछ कहता ही नहीं है?

लेकिन ये सब बातें अब बहुत पुरानी पड़ गयी हैं। सरिता अब बड़े सुख से रहती है। उसके कई छोटे-छोटे बच्चे हैं। वे उसके आँगन को निरन्तर अपनी किलकारियों से गुंजित बनाये रखते हैं। इस संसार का जो कुछ भी सुख है, सब उसके आँगन में खेलता है, मचलता है, रीझता है, खीझता है। ऐसा जान पड़ा, जैसे मेरे हृत्पिण्ड पर पेंसिल से खींची वे रेखाएँ अब ऐसी धुंधली पड़ गयी हैं कि बिलकुल पढ़ी नहीं जातीं। कदाचित् इसी की मीमांसा करने को जी कुछ उतावला हो उठा था।

उस दिन एक बारात से विदा लेकर जब मैं इलाहबाद चलने लगा, तब वह लखनऊ जाने लगी। ताँगे पर ही मैं उससे विदा होने लगा। बड़ी मुश्किल से मैं उसके साड़ी से ढके चरण खोल सका। उनकी धूल मैं अपने मस्तक से लगा ही रहा था कि देखता क्या हूँ, एक गरम-गरम

अश्रुविन्दु मेरे हाथ पर टप से चू पड़ा। इसके साथ ही सरिता के मुख से यह भी सुनायी पड़ा—"कभी-कभी चिट्ठी तो भेजा करो रमेश।"

मैं इसका कुछ उत्तर न दे सका।

उधर सरिता के ताँगेवाले ने अपने घोड़े की पीठ पर ज़ोर से चाबुक मार दिया कि मुझे ऐसा जान पड़ने लगा, मानो वह मेरी ही पीठ पर पड़ा है!

इसके बाद मैंने देखा, उसका ताँगा हवा से बातें करने लगा है।

मैंने सोचा था, मेरी हृत्पिण्ड रूपी-स्लेट पर जो रेखाएँ कभी खींची गयी थीं, वे कुछ धुंधली पड़ गयी हैं, पर अब मेरे हृदय के भीतर का हाहाकार कह उठा—"नहीं ऐसी बात नहीं है।"

आज फिर वही पुस्तक लेकर बैठा था। सोचा था, आगे भी देखूँगा कि सरिता ने किन-किन स्थानों को रेखांकित किया है। पर ये पिछली बातें जो एकाएक मुझे मथकर छोड़ गयीं, तो अब यह पुस्तक आगे फिर कभी उठाऊँगा भी या नहीं, कह नहीं सकता, हाँ, नहीं कह सकता।

●

अपर्णा

उनके नैश निलय से अभी लौटी हूँ। वे अब सो गये हैं। मेरा शरीर भी अब विश्राम चाहता है। लेकिन मेरा मन ?

मन शान्त नहीं है।

मुझे क्या हो गया है, यह मैं नहीं जानती। जैसे—मैं क्यों पैदा हुई यह भी नहीं जानती। इतना अवश्य जानती हूँ कि पिता जी ने मुझे पैदा किया है। सन्तान की उत्पत्ति माता-पिता की प्रेरणा से ही होती है। प्रेरणा से नहीं भी हो सकती है और प्रेरणा न रखने से भी हो सकती है। लेकिन उन्होंने तो मुझे केवल सन्तान होने के लिए आमंत्रित किया है। हूँ—तो मैं केवल बच्चा जनने के लिए पैदा हुई हूँ ! मेरे जीवन की उपयोगिता केवल बच्चा जनने में है। मेरे जीवन में सत्य अगर कुछ हो सकता है तो यही—इतना ही। और यह सत्य जो इस समय सो रहा होगा ?

कौन जाने सो रहा है—या करवटें बदल रहा है। उन्होंने पूछा था—"यह सत्य नाम का जानवर क्या बला है ?"

"सत्य नाम का जानवर !"

जैसे किसी भैंसे ने लात मार दी हो और वह लगी हो मेरी छाती पर। मैंने उनकी ओर से अपनी दृष्टि हटा ली। क्योंकि इस कथन की कुरुचि पर मैं अपने मन की झलक उनके समक्ष प्रकट नहीं करना चाहती थी। किन्तु मुझे कुछ उत्तर तो देना ही चाहिये था। मैंने कह देना चाहा —"दीदी से नहीं पूछा ?"

फिर ख़याल हुआ कि दीदी को मैं नाहक़ बीच में डाल रही हूँ। तब साफ़-ही-साफ़ कह दिया—"सैलून में सिर के सफ़ेद बाल चुनवाते हुए कभी बारबर से पूछ लिया होता !"

बात कड़वी थी ही। तीर-सी लगी उनके हृदय पर। बोले—"हूँ, तो इसका मतलब यह हुआ कि मैंने ठीक ही सोचा था।"

बोलते समय शीशे के सामने उनका मुँह था और सिगरेट का एक चौथाई भाग शेष रह गया था। इसके बाद वे चुप हो गये।

मैं मन-ही-मन सोचने लगी—'क्या मेरा यही धर्म है ?' किन्तु मैं इस प्रश्न पर और अधिक सोच न सकी। क्योंकि बार-बार घुमा-फिराकर कुछ प्रश्न मेरे मस्तक पर बन्दूक के छर्रों की भाँति लगने लगे। सन्तान के नाम पर जो व्यक्ति एक स्त्री की आत्मा पर पद प्रहार करके दूसरी का आह्वान करता है, उसे अपने रिश्ते में होनेवाले एक अनुज को, अपने यहाँ एकाध दिन के लिए आ जाने पर जानवर कहने का क्या अधिकार है, जब वह अपने मन से नहीं आया ? मैं और दीदी दोनों ही उसे बहुत अनुरोधपूर्वक ले आयी हैं।

'लेकिन यह तो उनके अधिकारों पर मेरा आक्रोश हुआ।' मैं सोचने लगी। क्योंकि मैं दोषी समझने पर भी उनको दोष नहीं देना चाहती थी। मैं चाहती थी कि वे मुझे चाहे असत्य समझ लें; पर सत्य को असत्य न समझें।

×

नींद नहीं आ रही है।

समुद्र का जल जैसे बासों उठ रहा है, उछल रहा है। लहरों में फैल रहा है, आगे बढ़ता जाता है—बढ़ता जाता है और फिर लौट जाता है।

उन्होंने क्रोध के मारे जब सोने से पहले दूध भी नहीं पिया तब मैं उठी; हालाँकि मैं उठना नहीं चाहती थी; क्योंकि मेरा कोई दोष नहीं था। लेकिन मैंने सोचा—स्त्री का धर्म दाम्पत्य जीवन के मतभेद से भी ऊपर है। मैं दूध का गिलास उनके पास ले आयी। मैंने कहा—"लो, दूध पी

लो पहले, उसके बाद करवटें बदलना !" इस पर एक बार उन्होंने अपना सिर तकिये की ओर मोड़ लिया और फिर स्थिर हो रहे। स्थिर तो क्या हो रहे; क्योंकि दायें पैर का अँगूठा और दो अँगुलिया हिल-हिल कर उनके मन का उत्पात व्यक्त कर रही थीं—मैं तुमसे नाराज़ हूँ। मुझे तुम्हारा उत्तर खल गया। मैं उसे सहन नहीं कर पाता।'

चुप रहकर वे जैसे यही कहने लगे। तब मैं विवश हो गई और फलतः-मैं और भी ढीठ बन गयी। अपने स्वाभिमान को, अपने अहम् और अन्तः करण के पावन गौरव को, अपने हृदय की न्यायनिष्ठा और तेजोमयी सत्य साधना को मैंने एक कोने में रख दिया। अनुभव करने लगी कि मैं एक ऐसे समाज की वधू हूँ, जो स्त्री की मानमर्यादा को कुचलकर पुरुष के हर दुराग्रह, द्वेष और अहंकार को ही अधिक महत्व देता है।

धीरे से मुस्कराकर मैंने कहा—"अरे ! नाराज़ हो गये ! उठो-उठो, मुझे क्षमा कर दो। मैं नहीं जानती थी कि तुम मेरी बात का इतना बुरा मानोगे। ऐसा ही था तो तुमने मेरी आदत क्यों खराब की—क्यों मुझे इतनी आज़ादी दी—क्यों मुझे इतना प्यार किया ? बोलो।"

तब वे उठे। मेरी आँखों में आँखें डालकर उन्होंने मुझे देखा और बोले—"तुम बड़ी शैतान हो अपर्णा !"

उनका यह कथन सचमुच मुझे बहुत प्रिय लगा। एक बार मेरे अन्त-स्तल में जैसे कोलाहल मच गया; क्योंकि मुझे उनकी यह बात कुछ-कुछ सच भी जान पड़ी। उन्होंने गिलास मेरे हाथ से ले लिया। फिर दूध पीकर लेटते हुए वे कहने लगे—"सत्य वैसे शिष्ट तो बहुत है, लेकिन मुझे ऐसा लगा जैसे घमंडी बहुत ज़्यादा है। इसीलिए मैंने उसके सम्बन्ध में उस ढंग से बात शुरू की थी।"

मुझे इससे क्या ? मैं सोचने लगी—जान पड़ता है अभी तक मूल विषय से अलग नहीं हो पाये। उधर अगर मैं चुप रहूँ, तो भी ये मुझे गलत समझते हैं। इसलिए मुझे कुछ-न-कुछ बोलकर इस विषय को समाप्त कर देना चाहिये। मैंने कह दिया—कल सवेरे की गाड़ी से

जानेवाले हैं ।"

तब वे यकायक जैसे चौंक से पड़े हों ! बोले—"नहीं-नहीं; आया है तो दो-चार दिन खूब अच्छी तरह रखकर भेजना होगा । मौसा जी ने मेरे लिए बहुत कुछ किया है । कम-से-कम इसी ख़याल से मेरा यह कर्तव्य हो जाता है कि···। लेकिन वह तो पैर छूने के अनन्तर मुझसे कुछ बोला तक नहीं । न हो, कल फैक्टरी में भेज देना । तबियत बहल जायगी ।"

इस तरह यह विषय समाप्त हो गया किसी तरह ।

—तो अब सोया जाय । आँखें झपकने लगी हैं । लेकिन सोने से पहले अब भी एक कर्तव्य निभाना रह गया है । बचपन से ही कुछ ऐसा अभ्यास रहा है कि रात के समय उठने पर कमरे की लाइट ऑन नहीं करती; टार्च से काम लेती हूँ । सो अपने कमरे के बाद उनके कमरे को पार करती आगे बढ़ी तो देखा, दीदी के कमरे के आगे फ़र्श पर एक रुनका पड़ा है । चमक रहा है, सफ़ेद-सफ़ेद । उठाकर देखा—ओह ! यह तो दीदी की पायल का रुनका है । फिर आगे बढ़ी, टार्च की लाइट ऑफ़ करके । दीदी के कमरे के किवाड़ों पर धक्का दिया हल्का-सा, जिसमें ज़्यादा आहट न हो और दरवाज़ा अन्दर से बन्द न किया हो, तो किवाड़ खुल जाय ।

सो वही बात हुई । एक किवाड़ खुल गया । मैं वहीं खड़ी हो गई । सुना, दीदी खर्राटें भरती हुई सो रही है । तब चुपचाप किवाड़ को उसी प्रकार उढ़का दिया, फिर आगे जाने लगी । टार्च की रोशनी ऑन कर ली, फिर घड़ी देखी । तीन बज गये थे । तब ख़याल आया कि उनके कमरे से तो मैं बारह बजे ही लौट आयी थी ! अनेक प्रकार की कल्पनाएँ मन में आ-जा रहीं थीं, तो मैं भी आगे बढ़ गयी । अब जो कमरा आ रहा है, सत्य वहीं सो रहा है । आज ही मन में आया—क्या सत्य भी कभी सोता है ? सत्य तो जागृत अवस्था का नाम है । लेकिन फिर अपने ही हृदय से पूछ बैठी—तेरा सत्य तो तेरे अन्दर सदा सोया हुआ ही

रहा है—तूने उसे जगाकर बाहर निकलने ही कब दिया !

बस, इतना ही सोच पायी थी कि देखा सत्य सोया नहीं; करवटें बदल रहा है। ये लो, वह उठ बैठा। बोला—"अरे ! इतनी रात को ! मैं आज यह सब क्या देख रहा हूँ !"

मन में आया—देखूं, कथन के क्षण मुद्रा का क्या भाव है ! कोरा विस्मय है या पूर्वाभास भी इसमें कुछ आ गया है। किन्तु मैंने मन के तूफान को भीतर-ही-भीतर मसोस कर कह दिया—"चुपचाप सो जाओ। बात करने का वक्त नहीं है।" और मैं आगे बढ़ गयी। इस कमरे के बाद ही ज़ीना पड़ता था, अतः मैं नीचे चली गई। भंडारे में चूहे खड़भड़ मचाये हुए थे। रोशनी देखकर भाग खड़े हुए।

इस दृश्य को देखकर मुझे खयाल आ गया कि इस असीम सृष्टि में आज अधिकांश पीड़ित सशंकित और भीरुजनों की यही गति है। फिर आगे बढ़कर सदर दरवाज़े को जाकर देखा। देखा, ठीक ढंग से बन्द है। चिन्ता की कोई बात नहीं है।

अब की बार जब में लौटी तो देखा, सत्य ने दरवाज़ा बन्द कर लिया है। सोचा, यह काम उसने समझदारी का किया। किन्तु आगे बढ़-कर ज्यों ही मैंने खिड़की की तरफ टार्च का प्रकाश फेंकने की चेष्टा की तो देखा—सत्य खड़ा-खड़ा सूने आकाश की ओर देख रहा है।

सत्य की यह स्थिति सोचती हूँ, बिलकुल स्वाभाविक है। तभी मन में आया—क्या मैं उसके पास जाऊँ ? नहीं-नहीं, छी-छी ! यह मैं क्या सोचती हूँ ? और मैंने बजाय टार्च का रुख दूसरी ओर कर लेने के उसकी रोशनी ही लुप्त कर दी। फिर मैं अपनी शैया पर आ पड़ी। पर पड़ी-पड़ी अब भी मैं करवट बदल रही हूँ; यद्यपि घड़ी में मिनट की सुई पैंतिस पर आ गई है। कानों में जैसे कोई कह-कह जाता है—सत्य की इस स्थिति के विकास में क्या मेरा हाथ नहीं है।

सिर भारी हो गया है। शरीर की नस-नस कसक रही है, तो भी नींद नहीं आ रही है। इधर सत्य खिड़की खोले आसमान के तारे गिन

रहा है। और आँधी के झकोरे की तरह कोई मेरे प्राणों से लिपटकर पूछ उठता है—यह सब क्या हो रहा है ?

तब यही सोचकर रह जाती हूँ कि मैं कुछ नहीं जानती। मैं कैसे जान सकती हूँ कि कहाँ क्या हो रहा है। क्योंकि मैं यह भी नहीं जानती कि मुझे क्या हो गया है।

दूसरे दिन मेरा देर से उठना स्वाभाविक था। पहले भी अनेक अवसरों पर मैं देर से सोयी हूँ। लेकिन कभी ऐसा नहीं हुआ कि आठ बज जाने पर स्वतः उन्होंने आकर मुझे न जगाया हो। किन्तु आज ऐसी बात नहीं हुई। आज उनके बजाय मुझे दीदी ने आकर जगाया। इसके सिवा मैंने यह भी अनुभव किया कि अन्य दिनों की अपेक्षा आज वे प्रसन्न भी अधिक हैं। मेरे पलकों पर बरफ के पानी के छींटे मारती हुई वे कह रही थीं—फिर साँझ होगी, फिर अँधेरा घना होगा, फिर तारे निकलेंगे और और ऐसी ही सुहावनी—ऐसी ही मीठी—रात फिर आयेगी, अपर्णा। अब तो उठो, देखो, धूप वातायन से आकर रनियाँ के मुख-भाल पर पड़ने लगी। बदमाश कहीं की। कम-से-कम उसे तेरे हौसलों का कुछ ख़याल तो करना ही चाहिये था।

सुनकर मैं अवाक् रह गई। कल रात की चिन्ता-धारा उनके मस्तिष्क से गयी नहीं है। सिर की पीड़ा भी थोड़ी कम हुई है। किन्तु तत्काल मुझे सँभल जाना पड़ा। एकटक दीदी की ओर देखकर थोड़ी मुस्कुराई और फिर आँखें मलती हुई उठ बैठी। फिर घड़ी देखकर हैरान रह गई। सचमुच आज अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक देर हो गई थी और खानेवाले कमरे से आवाज़ आ रही थी—तेरे उठाये से न उठती हो तो मैं खुद जाऊँ। दीदी यह कह कर चली गयीं—अब मैं जाती हूँ। जल्दी से तैयार होकर आ जाओ। सब-के-सब चाय के लिए तुम्हारे ही इन्तज़ार में बैठे हैं।

थोड़ी देर बाद मैं पहुँची तो दीदी दूर ही से मेरी ओर देखकर कहने लगीं—"तो व्याकुल क्यों हुए जाते हो। वह आ तो रही है।···ये आयीं।
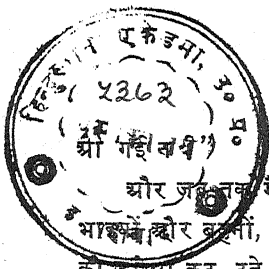
और जब तक मैं बैठक में पहुँची कि दीदी खड़ी होकर बोल उठीं—भाइयों और बहनों, अब तक आप लोग जिन की प्रतीक्षा में चाय-पान की उपेक्षा कर रहे थे, वे महामहिमामयी अपर्णा रानी आ गईं। उनकी स्वास्थ्य कामना के उपलक्ष्य में आप लोग अपना प्याला एक साथ उठाकर मिलालें।

और सचमुच सब लोग अपने-अपने प्यालों को आगे बढ़ाकर मेरी ओर देखने लगे। यहाँ तक कि मुझे भी बैठते ही अपना प्याला उठाकर धन्यवाद-सहित उपस्थित-मंडली का साथ देना ही पड़ा। फिर पहला घूँट कण्ठ से उतारकर मैंने मुँह घुमाकर सत्य से पूछा—"आपको भी जान पड़ता है रात को नींद ठीक से नहीं आई।"

कल ही मैं उनकी मौसी के यहाँ से आई हूँ। और आई हूँ लगभग एक मास बाद। मौसी की लड़की मुक्ता का ब्याह था। उसी के निमन्त्रण में जीजी के साथ गई थी। और वे मसूरी चले गये थे। अच्छा तो मेरे एक मास बाद लौटने पर......। हाँ, फिर भी रात को यदि मुझे नींद नहीं आई, तो स्वामी इसका क्या अर्थ लगा सकते हैं, इतना जानती हूँ। लेकिन इस सत्य से यह क्यों मैंने पूछ लिया कि जान पड़ता है, आपको भी नींद नहीं आई? क्या केवल इसलिये कि वह उनका मौसेरा भाई है? इसलिए नहीं कि वह मेरा सत्य है?

नित्य सोचती हूँ कि इस सत्य को मैं स्वामी से कैसे और कब तक छिपा सकती हूँ कि वह मेरी अर्चना का पात्र है।

तभी फिर आँधी के झकोरे की तरह कोई मेरे प्राणों से लिपटकर पूछ उठता है कि सच-सच बताओ अपर्णा, यह सत्य तुम्हारा कितना असत्य है!

राजपथ

"कान खोलकर सुन लो अनामिका, मैं रूढ़ियों के समक्ष किसी प्रकार सिर नहीं झुकाऊँगा। मैं परम्पराओं के खूँख़ार नाखूनों से अपनी छाती का माँस कदापि न नोचने दूँगा। मैं तुम्हारे साथ ही नहीं—मैं किसी के साथ भी ब्याह नहीं करूँगा। मैं ब्याह करूँगा ही नहीं।"

ये शब्द थे, जो उमानाथ चलते क्षण अनामिका से कह गया था।

"मैं भी समाज के समक्ष उसकी तर्जनी का उपहास-संकेत, उसकी आँखों की कुटिल किरकिरी, उसके ज़हरीले तीरों का क्रूर निशाना और उसके रात-दिन की बहस की सस्ती खाद्य-सामग्री कदापि न बनूँगी। मैं अपने नारीत्व को अवैध और अपनी सन्तान को वंशगत उत्तराधिकार से वंचित, दरवाज़े-दरवाज़े का भिखारी कभी न बनने दूँगी। मैं रूढ़ियों और परम्पराओं को तोड़ने का आन्दोलन भले ही करूँ—'लेकिन अपने जीवन को उस आन्दोलन की बीभत्स प्रतिक्रियाओं का शिकार बनाना किसी तरह पसन्द न करूँगी।"

ये शब्द थे, जो अनामिका ने उमानाथ के उपर्युक्त कथन के उत्तर में कहे थे। पर झगड़ा इससे बढ़ता ही गया। उमानाथ ने कह दिया—"यह तुम्हारी साफ-साफ गद्दारी है, क्रान्ति सेना के एक सैनिक के साथ।"

फिर इसके उत्तर में अनामिका ने और भी तीव्र स्वर में कहा था—"एक विराट जनसमूह के साथ आगे-आगे चलते-चलते, महलों की ऊँचाई देख-देखकर पूँजीवाद के नाश का नारा लगाने के बदले जो केवल अकेले चलकर उन महलों पर तम्बाकू की एक पीक मात्र छोड़ देने से अपने

आपको महान् क्रान्तिकारी समझ लेते हैं, आज का समय जगत् उन्हें एक क्षण को भी क्षमा नहीं करेगा।"

पर इन कथनों से भी झगड़ा शान्त नहीं हुआ। क्योंकि—'जब तक क्रान्ति सफल नहीं हो जाती, तब तक हर एक क्रान्तिकारी को समाज का यह तिरस्कार तो सहना ही पड़ता है।"

"क्रान्ति सामूहिक विद्रोह का नाम है। व्यक्तिवादी सामाजिक विद्रोह कभी क्रान्ति का पद नहीं प्राप्त कर सकता।"

"विद्रोह को सामूहिक बनाने के लिए पहले उस व्यक्ति को ही आगे बढ़ना पड़ता है, जो क्रान्ति-स्रष्टा होने के साथ-साथ एक चिन्तक और विचारक भी होता है।"

"जहाँ राजनैतिक क्रान्ति के लिए यह एक अमिट सत्य है, वहीं पर सामाजिक क्रान्ति के लिए यह एक ऐसी भ्रान्ति है, जिसने लाखों घरों में पावन दीपमालिका के दिन भी स्नेह-रश्मि और आलोक का एक दीप तक नहीं जलने दिया। मैं उन कायर लोगों में से नहीं हूँ अनामिका, जो तर्क से हार मानकर अपना निश्चय बदल डालते हैं।"

"मैं भी उन मूर्ख लोगों में से नहीं हूँ, जो जिद्द को दृढ़ता, हठ को संलग्नता और दुस्साहस को वीरता मानकर घमंड से फूल उठा करते हैं!"

"अच्छी बात है। आज से हम लोगों का रास्ता अलग होता है!"

"यह मैंने उसी दिन सोच लिया था, जब तुमको जान-बूझकर नाराज़ कर दिया था।"

आज क्यों इस समय आकाश कुछ-कुछ धुएँ के रंग का हो रहा है? क्यों कहीं गहराई जो थोड़ी देख पड़ती है, उसमें कालिमा अधिक बोलती है और क्यों कहीं हलकापन जो लक्षित होता है, तो धुंधलापन भी उजला उजला-सा लगता है। क्यों घनों की यह श्यामलता कोरों पर आकर श्वेत झलक मारती है। क्यों बीच-बीच में उजले-उजले धब्बे ऐसे फूट पड़े हैं,

जैसे कोई विद्युत-पिंड हों । नगर के बीच लम्बी-लम्बी अट्टालिकाओं के ऊपर हरीतिमा की जो ऊँची-नीची पंक्ति दीख पड़ती है, वह नीम के सघन वृक्षों की शिरोराशि क्यों है ? क्यों धीरे-धीरे संध्या रजनी के दुकूल में छिपी जा रही है और क्यों चंचल विहंगावलियाँ दक्षिण से उत्तर की ओर द्रुतगति से उड़ी जा रही हैं ?

केवल इसलिए कि मेरी अनामिका इस नगर में कहीं आई है। मुहाल, सड़क, गली और उसके प्रत्येक मकान में खोज आया; लेकिन कहीं भी उसका पता नहीं चला। सड़क पर स्थिति एक कोठी के ऊपर खड़ा-खड़ा उमानाथ यही सोचता-सोचता नीचे उतर गया और फिर टहलता-टहलता अदृश्य हो गया ।

घंटे भर से वह घनश्याम के कमरे में बैठा था। आते क्षण उसने अभिवादन मात्र किया था। बैठने पर कुछ बोला नहीं था। कभी कोई पत्र-पत्रिका उलटता रहा, कभी एक झटके के साथ उठकर कमरे से बाहर चला गया और लम्बी छत के किनारे जा खड़ा हुआ। कभी उधर से आते ही बोला—"एक गिलास जल" ।

जल पी लेने पर वह फिर चुप हो रहा । छत के किनारे जाकर उसने क्या देखा, क्या पाया, क्या अनुभव किया, किसको आँखों की अपलक दृष्टि में भरता रहा और किसको देख पड़ने पर भी नहीं देखा, छोड़ दिया, भूल गया—कुछ भी घनश्याम की समझ की ओर से नहीं छू पाया तो उसने पूछा—"चाय पियोगे ?"

उत्तर मिला—"चाय ?" और साथ ही उमा कुछ सोचने-सा लगा ।

फिर बोला—"नहीं, अब नहीं पी सकूँगा ।"

आश्चर्य के साथ घनश्याम ने पूछा—"आखिर क्यों ?"

उत्तर में उमा मुस्कराने का प्रयत्न करने लगा। पर घनश्याम को कुछ ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे इस मुस्कुराहट पर आँसुओं के धागों से बनी हलकी-फुलकी, झीनी-झीनी, पवन डोलन से लहराती मन्द-मन्द हरी छाया का परदा पड़ा हुआ है। फिर भी घनश्याम ने अपने छोटे भागिनेय

गनेस से कह दिया—

"चाय तो बनाओ गनेस। और देखो, स्ट्रांग बनाना। अच्छा।"

×

अब बत्तियाँ जल गई हैं। सड़क पर रोशनी—हाँ, रोशनी काफ़ी है। बैलगाड़ियाँ जा रही हैं और बैलों के गले में घंटियाँ बँधी हुई बोल रही हैं। बैलगाड़ी कोठी के सामने से आगे भी बढ़ गयी।

घंटियों का रव अब तक आ रहा है पता नहीं अनामिका इस समय कहाँ हो और क्या कह रही हो। हाँ, मुझे भी ऐसा प्रतीत होता है जैसे अनामिका अपने स्नानागार से कोई गीत गुनगुना रही हो—ऐसा गीत जो दिन में कई बार याद आता है। एक बार मैंने पूछा था कि जब तुम बाथरूम में गाती हो; अच्छा गाती न सही, मान लो गुनगुनाती ही हो, तो उस गीत का मूल अभिप्राय क्या होता है?

यों तो अनामिका उत्तर देने में बड़ी मुखर है। प्रवीण इतनी कि उसे कभी सोचने की ज़रूरत नहीं पड़ती; लेकिन उस दिन न जाने क्यों, वह कोई स्पष्ट उत्तर न देकर अधरों के विकास के साथ सम्यक् मुस्कराने लगी थी। मैंने अपने मन में सोच लिया था, किसी-न-किसी बात का उत्तर केवल मौन होता है और क्षण-भर में यह बात भी मेरे मन में आई थी कि बाथरूम का गुंजन सदा अपने प्राणों के देवता की उपासना में लीन आनन्द और सौख्य की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति होती है। प्यार का प्रतिदान होता है, आत्मा का वह विरल स्वर, जिसमें आह्वान भी होता है और समर्पण की तृप्ति की पावन अभिव्यंजना। वह मुझे अब भी सुनाई पड़ रही है। पहिया ज़रा धीरे-धीरे आगे बढ़ता है। ठेला भरा भी तो ख़ूब है। एक-दो-तीन—अरे, बीस बोरे होंगे ये सब; बल्कि बाइस। आगे-आगे भैंसा, पीछे मज़दूर। लेकिन ये ठेलेवाले क्या बदन में तेल चुपड़कर बाहर निकलते हैं? अन्यथा इनके पुट्ठों पर यह काला-काला चमकता-सा क्या है?...हारमोनियम लेकर दो बच्चे गाने निकले हैं। एक अठारह साल का होगा। दूसरी एक छोकरी है। वह

अभी ग्यारह की होगी। लड़के ने टीप लगाई—'मैना तोरे नैना बेदरदी बड़े।' और छोकरी ने बीच में ही उसे कटी पतंग की तरह दौड़कर, उछलकर, झपट्टा मारकर, हस्तगत कर लिया—कि 'सैंया तोरे नैना बेदरदी बड़े।'

छी-छी! यह हमारी नयीपौध का नव-निर्माण हो रहा है!

ठेलावाला अब भी चला जा रहा है, खटर-खटर। और वह काला-काला-सा जो उसके वदन पर चमक रहा था, वह तो पसीना है यार! हिश···मैं भी क्या उजड्ड बन गया! किन्तु बीस बोरे, यानी पचास मन बोझ ढोनेवाला आगे-आगे भैंसा, पीछे-पीछे ठेलेवाला। दोनों ढो रहे हैं। एक पशु है, दूसरा मनुष्य। लेकिन यह मनुष्य कैसा है, जो पशु का काम कर रहा है! क्योंकि मनुष्य नामधारी एक ऐसी जाति हमारे बीच बन गयी है, जो मनुष्य से पशु का काम लेना जानती है। और मनुष्य जो पशुवर्ग का काम करता है उसकी अपनी ज़िम्मेदारी कुछ नहीं है।··· नहीं—नहीं—नहीं, कुछ नहीं है। क्योंकि देश के सुख-दुख के ठेकेदार जब मोटरों अथवा वायुयानों पर चलते हैं, तब उनके मस्तिष्क में योजनाओं की सफलता के स्थान पर वक्तव्य—केवल वक्तव्य की कल्पनाएँ रहती हैं।··· यह छोकरी है तो कोयले की जाति की, मगर गले की धार इसकी चलती कटार-सी है।···उँह। सड़क पर आने-जानेवाले क्या नहीं बकते? मगर इससे हमारी जनता का मानसिक स्तर तो झलकता ही है।

×

कुछ परेशान-सा घनश्याम पूछ रहा था—"कहाँ गये उमा बाबू? कुछ कह के नहीं गये। तुमने देखा तो होगा ही, उनको नीचे जाते हुए।"

"मैंने तो नहीं देखा मामाजी।" गनेश का सीधा-सा उत्तर था।

"लेकिन तुम समझे नहीं कि मैंने प्रश्न क्या किया। मेरा मतलब यह है कि जब कोई अपने यहाँ से जाने लगे, तब उसको देखना तो चाहिये।"

"पर जानेवाले को मैं कैसे देखता रह सकता हूँ। क्योंकि कौन आता है और कौन जाता है, यह देखने के सिवा मुझे और काम भी रहते हैं।"

"गनेश कहता तो ठीक है।" घनश्याम सोच रहा था—"लेकिन फिर उमानाथ की शान? कुछ समझ में नहीं आता कि इस आदमी से कैसे व्यवहार किया जाय। अरे पूछो, तुमको अगर कृष्णमुख करना ही था, तो तुम मुझसे कहकर ही करते।" इतने में आवाज़ आई कुट्-कुट्-कुट्। घनश्याम ने आँख से संकेत किया—देखो तो कौन है?

गनेश झट द्वार की ओर दौड़ गया। पर दरवाज़ा खोलते ही बेचारा भौचक्का-सा रह गया। क्षीण, महीन और दुर्बल स्वर में एक सम्भ्रांत नारी ने पूछा—"घनश्याम जी हैं?"

"हैं तो। पर आप···आपके परिचय के सम्बन्ध में!"

"परिचय? परिचय मेरा उनसे नहीं; तो क्या मैं उनसे मिल नहीं सकती?"

"तो फिर······गनेश के कहने भर की देर थी कि वह युवती आगे बढ़ गई! केश बिखरे तो नहीं कहे जा सकते, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है, कंघी का उपयोग किये हुए देर हुई। श्वेत साढ़ी से तन ढका है। जूतियाँ श्वेत हैं, लेकिन उनमें सुनहरा काम सौन्दर्य की झलक मारता है। एक कलाई में सोने की घड़ी, दूसरी में सुनहरी तीन चूड़ियाँ हैं। ब्लाउज़ श्वेत है और उसमें श्वेत बूटे बने हुए हैं, कानों में श्वेत हीरे चमक रहे हैं। वस्त्रों के ऊपर 'फ़र क्लाथ का ओवरकोट पहने हुए हैं। हाथ में पर्स है। अँगुलियों में केवल कनिष्टिका के नक्षत्र हरे लाल झलकते हैं। बायीं आँख के नीचे······बल्कि कोर पर एक तिल है। बरौनियों के नीचे श्यामता झलक मारती है। बदन छरहरा, वर्ण गेहुँआ और कटोरे से नयन। किन्तु इन सब में नासिका अत्यन्त सुन्दर है और होंठ बड़े प्यारे हैं, बड़े रसीले! देखकर घनश्याम चक्कर में पड़ गया। पर इसी क्षण सम्मुख उपस्थित होते ही हाथ जोड़कर युवती ने पूछा—"उमेश जी आपके यहाँ······?"

घनश्याम को पता है कि उमा कभी-कभी अपने उमेश नाम का भी उपयोग करता है। फिर भी बोल उठा—"उमेश! उमेश नाम तो अच्छा

है। पर खेद है, इस नाम का कोई व्यक्ति मेरे यहाँ नहीं रहता।"

युवती बोली—"रहते ज़रूर होंगे। ज़्यादा ऊँचे कद के नहीं हैं। खादी का कुरता और सेकंडस न्यू मॉडल की रिस्टवाच पहनते हैं। अनेक बातों का उत्तर आँखों के पलक ऊपर करके—और बहुत हुआ तो एक हल्की मुस्कान झलकाकर देते हैं। निश्चित समय पर आने में कभी हिचकते नहीं, अक्सर गुनगुनाते ही रहते हैं। रंग खूब गोरा है। अभी हाल ही में एक बादामी बैग ख़रीदा है। नीलम की अँगूठी पहने भी आपने कभी देखा होगा।"

घनश्याम इस लम्बी परिभाषा को सुनकर हँस पड़ा। बोला—"वाह आप तो···उमानाथ की एक सजीव डायरी हैं···बैठिये-बैठिये।"

इतने में गनेश बोल उठा—"चाय मामा जी।" तब घनश्याम ने कह दिया—"देखिये, थे तो वे यहीं कहीं अभी। बल्कि हमने उन्हीं के लिए चाय तैयार करवाई थी। पर जान पड़ता है कहीं रम गये हैं। या तो किसी से बात करने लगे, या किसी दृश्य का मुलाहिज़ा फरमाने में दुबले पड़ते जा रहे होंगे।"

सुनकर युवती हँसने का उपक्रम करने लगी। लेकिन हँस पाई नहीं। बोली—"आप का नाम अक्सर सुना करती थी। आज दर्शन भी हो गये। अच्छा अब मैं चलती हूँ।" 'कहती-कहती युवती उठकर खड़ी हो गई। घनश्याम बोल उठा—नहीं-नहीं। इस तरह आप नहीं जा सकेंगी। गनेश चाय ले आओ आप को।'

×

उमेश सीढ़ियों से ऊपर चला आ रहा था। इतने में उसे ख़याल आ गया कि सराफ़े की जिस दूकान पर वह बैठा हुआ था, उसमें अपना बैग भूल आया। तब उसे फिर लौटना पड़ा। अर्थात् यदि वह युवती घनश्याम के निकट चाय के लिए रोक न ली गई होती और यह उमानाथ सराफ़े में बैग न भूल आता, तो युवती तो ऊपर से नीचे आती होती और उमानाथ उसी सीढ़ी के मार्ग से खरामा-खरामा ऊपर की ओर

बढ़ता चला आ रहा होता। और तब एक साथ दोनों-के-दोनों एक दूसरे पर वर्स्ट हो पड़ते। लेकिन जान पड़ता है, होनहार को यह दृश्य भी कुछ जँचा नहीं।

उधर उमानाथ जब चढ़ी हुई सीढ़ियाँ उतरने लगा, तो उसे ध्यान आया कि इस तरह मेरा यह सीढ़ी उतरना अर्थात् पीछे जाना भी—अगला कदम ही है। तब वह जैसे मन-ही-मन मुस्कुरा उठा। वह सोचने लगा कि जो ग़लतियाँ ज्ञान अथवा अज्ञान में हमसे प्राय: हो जाया करती हैं, वे हमको जितना पीछे ले आती हैं, उनकी ये प्रतिक्रियाएँ हमको उससे भी कहीं अधिक आगे फेंक देती हैं।

तो क्या इसका यह अर्थ नहीं होता कि गलतियाँ भी अपनी प्रगति ही की सामयिक भूमिकाए होती हैं। यद्यपि अनामिका क्या सोचती होगी, यह और बात है। सीढ़ी उतरकर वह जो फाटक पर आया, तो उसे एक खाली ताँगा जाता हुआ, देख पड़ा। तब वह संकेत से उसे रोककर इतमीनान के साथ उस पर स्थापित हो गया। ताँगा उसे लेकर तेज़ी से बढ़ने लगा तो उमानाथ सोचने लगा—मैं अपनी अनामिका के साथ—ब्याह कर के उसे दाल-भात बनाना कभी पसन्द न करूँगा। वह मेरे लिए चमन के अंगूर और दसहरी आमसी मीठी और उर्वशी से भी अधिक छविमयी फूल से भी अधिक कोमल, कण्व ऋषि के आश्रम की शकुन्तला सी-भोली पानी से भी अधिक पतली – और आग से भी अधिक तेजस्विनी है।

×

युवती की आँखों पर उदासी छायी है। वह कुछ कहना नहीं चाहतीं; क्योंकि कुछ भी हो, उमा जिस प्रकार उसका आत्मीय है, यह घनश्याम तो हो नहीं सकता। और घनश्याम इस विषय में कुछ पूछना नहीं चाहता। युवती स्वत: भले ही कुछ कह दे। वह सोचता है कि इतना ही कौन कम है कि वह अपनी मान-मर्यादा भूल, खोजती-खोजती यहाँ आ पहुँची। फिर भी चाय पीते-पीते यकायक घनश्याम के मुँह से

निकल ही गया—"आयेंगे तो मैं उनसे कह दूँगा कि आप स्वयं आई थीं। फिर चुप रह गया। लेकिन नाम जानते हुए भी जान-बूझकर कहने लगा—"पर क्षमा कीजियेगा—अपना शुभ नाम तो बतलाया नहीं आपने ?"

खड़ी होती-होती युवती न चाहती हुई-सी किंचित हँस-सी पड़ी। बल्कि एक तरह का तेवर-सा झलकाती हुई बोली—"बुरा न मानियेगा। नाम उन्होंने आपको ज़रूर बतलाया होगा। हम लोगों की बात दूसरी है। आप लोग अपने मित्रों से हम लोगों की बातें छिपाना अभी सीख नहीं पाये। वैसे नाम मेरा अनामिका है।"

घनश्याम सुनकर कुछ उद्वेलित-सा हो उठा। ऐसा जान पड़ा, मानो उसका रोम-रोम एक बार एक छोर से दूसरे छोर तक पुलकान्वित हो उठा है। तभी विवश होकर वह भी उठ खड़ा हुआ। बल्कि अनामिका को विदा करने के लिए द्वार तक पीछे-पीछे चला भी आया।

अनामिका जब सीढ़ी उतरने लगी तो घनश्याम बोला—"आप से मिल कर बड़ी प्रसन्नता हुई। विशेष रूप से यह देख कर कि आपको इस प्रसंग से मेरे यहाँ आने में कोई संकोच नहीं हुआ। हमारे देश में अभी तक कम-से-कम आपकी जाति में इतना साहस प्राय: कम ही देखने में आता है।

अनामिका चलते क्षण यों भी अत्यन्त गम्भीर हो उठी थी। फिर घनश्याम ने उसकी इतनी प्रशंसा कर दी। तब अनामिका प्रति-क्रिया सँभाल न सकी। कुछ अन्यमनस्क-सी होकर बोली—"लेकिन मेरी प्रार्थना है कि अब आप उनसे यह बात प्रकट न कीजियेगा कि कोई भटकता-भटकता यहाँ तक आया भी था—उनके लिए।"

घनश्याम तब जैसे आँखें फाड़ कर जाती हुई अनामिका की ओर एकटक देखता रह गया। यकायक उसकी समझ में ही न आया कि क्यों यह नारी उमा से यह बात छिपाना चाहती है, जब छिपाने की बात करते क्षण आँखें उसकी पीड़ा प्रकट कर देती हैं।

सराफ़े की दूकान का नाम पड़ता है, कामताप्रसाद गोकुलप्रसाद। और गोकुलप्रसाद उमानाथ का सहपाठी है। बचपन में दोनों साथ-साथ स्कूल से लेकर कबड्डी तक में एक-दूसरे को मान देते रहते थे। उमानाथ जब उसकी दुकान पर अपना बैग भूलकर चला आया, तो गोकुलप्रसाद ने उसे अपने भतीजे से यह कहकर कोठरी के अन्दर रखवा दिया कि फिलौसफर साहब चिड़िया की तरह पंख फड़फड़ाते हुए अभी नमूदार होते हैं। लेकिन थोड़ी देर लटकाये बिना मज़ा न पैदा होगा। और उमानाथ तांगे पर जाता हुआ मन-ही-मन यह उक्ति सोच सोच कर खुश हो रहा था कि 'ताड़ से जो गिरा तो खजूर में अटका', लेकिन ताड़ से जो गिरा तो नवाब का बेटा चिड़ीमार बन गया। और वह अपने आप पर इस तरह हँस पड़ा कि उसकी आँखों में आँसू आ गये।

थोड़ी देर में ताँगेवाले ने कहा—"लीजिये सरकार आ गया यह आपका सराफ़ा।" लेकिन उमानाथ सड़क की शकल देख हक्का-बक्का रह गया। बोला—'लेकिन यह तो सराफ़ा नयागंज है बड़े मियाँ। मैंने यहाँ लाने के लिए कब तुम से कहा था ?

बड़े मियाँ बोले—"सरकार कलक्टरगंज के नुक्कड़ पर खड़े थे और मुंह था जनाब का गंगाजी की तरफ। अब सराफ़े को नयेगंज का बरखुरदार अगर मैंने समझ लिया, तो ख़ता माफ़ हो, क्या क़सूर हुआ हुज़ूर की जूतियों के तुफ़ैल का ?"

उमानाथ हँस पड़ा। बोला—"अच्छा-अच्छा ठीक है। अब सराफा चौक ले चलो !"

अनामिका अपनी गाड़ी की स्टियरिंग पर हाथ रक्खे खिन्न-मना लौटी जा रही थी। आगे-आगे जो ताँगा जा रहा था, उसमें बैठी नारी के वक्ष से लगा उसका चाँद-खिलौना एक कंदुक का दुग्धामृत पान करता हुआ दूसरे से खेल कर रहा था। अनामिका देखकर सिहर उठी। उसके मन में आया—'वे तो कहते हैं कि शिशुपालन की ज़िम्मेदारी बीस से पहले कोई नारी निभा ही नहीं सकती।...उँह ! उनके

कहने से क्या होता है ! यों तो यह संसार नरक का कुण्ड है। इसके अन्दर एक ये बालगोपाल ही तो हैं जो इस धरती को स्वर्ग बना देते हैं।···लेकिन वे तो कहते हैं कि हम विवाह ही न करेंगे। मुझे पिता की सम्पत्ति न चाहिये।······हूँ। उन्हें न चाहिये—न चाहें वो; लेकिन जब चाहने वाले जन्म लेंगे, तब उनके अधिकारों की हत्या मैं कैसे होने दूँगी !' और वे कहते हैं—'मुझे उन लोगों का समाज न चाहिये, जो पारस्परिक मनोभावों, आत्मगत आकर्षणों, आह्वानों, निमन्त्रणों और प्रतिदानों को वास्तविक विवाह न मानकर सात फेरों को ही विवाह मान बैठते हैं। उनका सिर फिर गया है। मुझे उनसे इसी विषय पर बातें करनी हैं। हमें जिन लोगों के बीच में रहना है, उनके संस्कारों का भी ध्यान रखना पड़ेगा। मैं यह पसन्द न करूँगी कि कोई हमें रखैल कहे। मैं उसकी जीभ खींच लूँगी !'

उधर ताँगे पर बैठा उमानाथ सोच रहा था—

'क्रान्ति सचमुच अकेले नहीं की जा सकती। अनामिका ठीक ही कहती थी। और हिन्दुस्तान जैसे देश में तो विवाह-प्रथा का नाश सामाजिक क्रान्ति का विषय कभी नहीं बन सकता। यह बात आज मैं इसलिए नहीं स्वीकार कर रहा हूँ कि अकेले काम करते-करते मैं हार गया हूँ। बल्कि यह एक अनुभूत सत्य है। अनामिका मिले, तो यह बात मैं उससे साफ़ तौर से कह दूँगा। नहीं-नहीं, मैं यह बात मरते दम तक स्वीकार न करूँगा। मैं उससे कभी यह न कहूँगा कि मैं थक गया हूँ, या इस सम्बन्ध में मैंने हार स्वीकार कर ली है। यह बात दूसरी है कि यदि अनामिका मुझे विवश करदे, तो मैं इन्कार न करूँ।

पर ऐसा सम्भव कहाँ है ! दृढ़ता में वह मुझसे कहीं आगे है।

लेकिन यदि उसने कोई दूसरा पथ स्वीकार कर लिया तो ?'

इस बात को सोचते ही उमानाथ कुछ ऐसा अनुभव करने लगा, जैसे उसका हृदय बैठा जा रहा है, डूबता जा रहा है। इतने में खटर झड़ड़—चोंऽऽ फिरचस।

गाड़ी सँभाली तो खूब लेकिन······! और अनामिका गाड़ी से उतर कर देखने लगी कि सामने की बछिया को चोट कितनी लगी। इधर-उधर के लोग दौड़ पड़े।

होली के दिनों में जैसे पिचकारियाँ चलती हैं—वैसे ही दुर्घटना के अवसर पर वाक्यों का 'विरायटी शो' होता है। बिना कुछ देखे समझे ही बोल पड़े, जो ठंढाई छानने के बाद अब पान की गिलौड़ी मुँह में खोंस रहे थे। —इन मोटरवालों की आँखों पर हमेशा चर्बी चढ़ी रहती है।—ओः! कोई मिस साहिबा हैं। ···कॉलिज की लड़की होगी।···

तब जाने दो। शहर की सारी रौनक इन्हीं की बदौलत है बाबू? वरना हल्दी-मिरचा, लोहा-लंगड़ और लोई-इकलाई के सिवा कुली-मज़दूरों के इस शहर में अन्दर और धरा क्या है?

आँखों पर पट्टी बाँधकर चलती हैं आप?

पट्टी नहीं, चश्मा है जनाब। ज़रा आँखें खोलकर बात किया कीजिये।···

कैसे बात करते हैं आप? ज़रा सभ्यता सीखिये।

—मैं तो नहीं सीख पायी, अब गऊहत्या करके आप ही सीख लीजिये।

—राम राम! देखो तो बेचारी कुल जमा दस-पाँच दिन ही यह दुनिया देख पाई थी!

मानती हूँ। लेकिन आप लोग इन्हें बाड़े के अन्दर बाँधकर क्यों नहीं रखते? मैंने बचाने की हरचन्द कोशिश की, लेकिन आप ही सोचिये, किसी की मृत्यु को कोई कैसे रोक सकता है?

—पहिया बिल्कुल पसलियों के ऊपर जा पड़ा। नहीं, इतनी जल्दी···।

हाय-हाय! अब भी जान बाकी है थोड़ी-सी। बेचारी पैर फड़फड़ा रही है।

—ये आ गये आप। आप ही की बछिया है यह?

—हाँ थी तो मेरी ही। मर गई क्या?

देखते हैं। देखकर उनसे बोल उठते हैं—अब आप से क्या कहें मेम साहिबा! बछिया मर गई मेरी। मेरी तक़दीर फूट गई। क्योंकि अब सवाल यह है कि मेरी गैया दूध कैसे देगी? सात सौ की ठहरी। कोई मामूली नहीं है। इसी क्वाँर में तो ली थी। बियाये हुए आज बारहवाँ दिन है।

हाय रे पैसा! उमानाथ का ताँगा भीड़ के कारण रुका हुआ था। इसलिए उतरकर वह भी यह दृश्य देख रहा था। अकस्मात् जो बछियावाले का कथन उसने सुना तो कोई-कोई उसके कानों में बोल उठा—हाय रे पैसा!···यानी इसको इस बछिया की इस आकस्मिक मृत्यु का दुःख नहीं है। फिकर केवल इस बात की है कि अब उसकी गैया से दूध और उस दूध से पैसा कैसे दुहा जायगा।

यकायक भीड़ में दृष्टि पड़ गई अनामिका पर। तब वह घूमकर उसके पीछे से पास आकर चुपचाप जा खड़ा हुआ।

इतने में अनामिका बोल उठी—"सारा दृश्य मेरी आँखों के सामने से गुज़रा है; क्योंकि मैं पीछे से आ रही थी। मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि मिस मालती ने इसको बचाने में कोई कसर बाक़ी नहीं रक्खी। लेकिन फिर होनहार को कौन रोक सकता है?"

इतने में कान्स्टेबिल बोल उठा—"अब आप सब लोग जाइये और आप बोलिये, अभी इसको यहाँ से उठाकर आप खुद ले जाना चाहते हैं, या मैं कोई इन्तज़ाम करूँ?"

इतने में अनामिका जो अपनी गाड़ी की ओर जाने के लिए घूम पड़ी, तो उमानाथ को पास खड़ा देख चौंक उठी। बोली—"अरे! आप यहाँ कहाँ?"

और उसी क्षण मिस मालती अनामिका के कन्धे पर हाथ रखकर बोली—Thank you dear लेकिन आज इतने दिनों बाद तुम यहाँ इस मजमे में टपक कैसे पड़ीं!···और फ़िलासफ़र साहब, आप तो जैसे गूलर के फल हो गये।

उमानाथ हँसता-हँसता बोला—"इसका कारण भी इन्हींसे पूछ लो।" और अनामिका ने उमानाथ का हाथ अपने हाथों में लेकर अपनी गाड़ी की ओर बढ़ते-बढ़ते मालती से कह दिया—"घर पर आकर गुटर-गूँ कर जा किसी दिन मेरी कबूतरी, यहाँ अब तुझसे क्या बात करूँ।" ताँगेवाले का पैसा चुकाकर फिर जब उमानाथ अनामिका के बगल में बैठा, तो उसे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे वह स्वप्न देख रहा है। लेकिन उसी क्षण उसे चारों ओर से भयंकर आँधियों ने घेर लिया। क्यों वह इस तरह का जीवन बिताने के लिए स्नेह की शीतल रश्मियों (छोटे-छोटे बच्चे, शिशु बालक-बालिकाएँ, नाती-पोते) से वह वंचित ही बना रहे और क्यों वह विश्व के लिए झल्ली भर उलहनों से भरी विकृतियाँ, कटुता और विष से बुझी आपत्तियाँ, मक्खियाँ भिनभिनाने योग्य वीभत्स, मानसिक दुर्गन्ध का क्रन्दन छोड़ जाय ! और इस तरह जिद्द को जो व्यक्ति सदा विजय मानते रहे हैं, क्या उनका मुँह इस क़ाबिल है कि वे विश्व के समक्ष मस्तक ऊँचा करके एक बार सगर्व, सहर्ष और सोत्साह खड़े भी हो सकें। और तभी उसने एक बार दिल थामकर कह दिया—"सबसे पहले हमको सराफ़ा चौक चलना है।"

"मेरे लिए कोई चीज बनवा रहे हो क्या ?" अनामिका ने मूलगंज चौराहे से चौक की तरफ़ गाड़ी घुमाते हुए पूछा। अपने मन-प्राण को थहाते-थहाते उमानाथ बोला—"सचमुच इस बार तुम्हारा यह मजाक़ पूरा कर देना है। मुझे अपने पहले उपन्यास की रायल्टी में सात-सौ रुपया एडवांस मिले थे। उसी की एक चीज़ बन रही है। देखो, शायद पसन्द आ जाय। आश्चर्य का समुद्र आज एक भंगिमा में आ गया है।"

अनामिका ने एक बार घूमकर उमानाथ की ओर देखा तो उसकी पुतलियाँ ऊपर की ओर से तिरछी घूम गईं। फिर सामने देखती-देखती आह्लाद के प्रकार में मन्द-मन्द हास झलकाती हुई कहने लगी—"कल से माँ तुमको बहुत याद कर रही हैं और मैं भी अभी तुम्हारी खोज में घनश्याम जी के यहाँ से ही आ रही हूँ।"

सिंहनाद

वह सिंह अब मौन हो चला था ।

दहाड़ना दूर रहा, खुलकर बात कहना भी अब उसके लिए दुष्कर था । उसके बाल बढ़े हुए थे । स्नान न कर पाने के कारण बदन में मैल-जम गया था । गड्ढों में धँसी हुई आँखों की कोरों में कभी-कभी कीचड़ आ जाता तो सविता अपनी धोती के अंचरा से पोंछ देती । शरीर सूख-कर कंकाल हो गया था लेकिन आत्म-चिन्तन के क्रम में कोई अन्तर न पड़ा था । सिकुड़ी हुई त्वचा की झुर्रियाँ सीधी-टेढ़ी रेखाओं से जो मनो-भाव व्यक्त करतीं उनसे यही ध्वनि निकलती, मानो अब वह अपने आदमी होने से ऊब उठा है । कदाचित इसलिए कि वह जो सोचता है उसे कर नहीं पाता । एक बार तो उसने बुदबुदाते हुए कह भी डाला था : गगनबिहारी राजहंस कभी एड़ियाँ रगड़ने के लिए नहीं जीता । सहारा लिये बिना उठना कठिन था । इसलिए सविता रजाई तहाकर प्रायः उसके सिरहाने रख देती । बैठने का सुख भी अपना एक अर्थ रखता है ।

पति प्राणनारी सविता जानती थी कि जितने दिन, घड़ी और पलों का जीवन शेष है कर्मभोग करना ही पड़ेगा । अवधि बीतते ही पिंजरा खाली करके प्राण-पंछी आप से आप उड़ जायगा । वह यह भी जानती थी कि ये चुपचाप लेटे-लेटे क्या सोचते रहते हैं । एक दिन उन्होंने कहा था—लगता है, मैं एक बुझी हुई मशाल हूँ, जिसकी गन्धमात्र धुएँ के साथ उड़ रही है । एक वैद्यराज की चिकित्सा चल रही थी, लेकिन मानसिंह की स्थिति तो उस घायल पक्षी की-सी थी जो जीवन-शक्ति के अभाव

में पंख फड़फड़ा रहा हो। कभी-कभी तो वे चुपचाप लेटे-लेटे प्रलाप भी करने लगते। मेरे ये बढ़े हुए केश काट न सको तो नोच ही डालो! इनकी परछाई मुझे मौत-सी काली और भयावनी लगती है। उम्र का हर दिन मैं घास की तरह चबाता रहता हूँ; फिर भी उसे पचा नहीं पाता। मुझे कहीं और ले चलो। तुम्हें नहीं मालूम मेरी चप्पलें तूफ़ानों से मोर्चा लेती रही हैं। मेरे विश्वासों का दम मत घोटो। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि सूचना देनेवाले ने अभियानसिंह के बजाय भूल से अभिमान-सिंह लिख दिया हो। मैं उसकी राख के फूल लेने क्यों जाऊँ, जब कि घोड़े की लगाम अभी उसके हाथ में है।

आँसू बहते जाते हैं और आशा की बेल मुरझाना नहीं चाहती। —मेरा अभिमान ज़रूर लौट आयेगा।

कहते हैं एक समय था, जब मानसिंह प्रादेशिक धारा-सभा के मनोनीत सदस्य थे। एक ऐसा भी युग था, जब सभा-मंडप में मंच पर विराजमान, ध्वनि-प्रसारक यंत्र से निस्सृत होती उनकी गुरुगंभीर वाणी का प्रभाव सहस्रों के जन-समूह में एक बिजली की लहर बिखेर देता था। एक अटूट सिद्धान्तवादी की भाँति वे सर्वस्व उत्सर्ग कर देनेवाले व्यक्ति थे और दक्षिण पंथियों में तो उग्रतम नेता माने जाते थे। पर फिर कालान्तर में एक ऐसा युग भी आया, जब वे अगले निर्वाचन में सफल न हो सके।

यह सब कुछ था, किन्तु अपने समाज में वे अब भी एक प्रतिष्ठित जननायक के रूप में प्रसिद्ध थे, यहाँ तक कि समय-समय पर उनको अब भी सभा-समाज में सभापति बनना पड़ता था। यद्यपि उनकी कार्यकारिणी की शक्ति अब क्षीण पड़ गई थी, किन्तु सेवा भावना का मोह उनको ऐसे अवसरों पर सभा-मंच की गद्दी सँभालने को बाध्य कर ही देता था।

जीवन में व्याप्त लोभ, मोह और अहंकार धीरे-धीरे समापन्न हो जाने पर भी मुमूर्ष प्राणी की कामनाओं का तारतम्य चलता ही रहता है। मानसिंह बुदबुदा रहे थे : एक अभिमान चीज क्या है? दूसरा पुत्र गौरव

भी होता, तो क्या मैं उसे युद्ध-क्षेत्र में न भेजता ? देश के शत्रुओं की बर्बरता का दम्भ धूल में मिला कर ही दम लूं इससे बढ़कर प्रिय इच्छा और मेरी क्या हो सकती है। मेरे अभिमान के लौटने में देर हुई तो उससे मिलने मैं खुद चला जाऊँगा।

इधर सविता बोल रही थी—समझ में नहीं आ रहा कि तुम कह क्या रहे हो! उधर इतिहास के पन्ने फर-फर उड़ते हुए बतला रहे थे।

एक सभा-मंच पर लगे ध्वनि-प्रसारक यंत्र से बोलते हुए मानसिंह ने कहा था—यह ऐसा अवसर है जब देश की आज़ादी की रक्षा के परम पावन यज्ञ में सबको भाग लेना पड़ेगा। हमें अपने स्वार्थों की आहुति देनी ही पड़ेगी।

जिस प्रस्ताव पर मानसिंह अध्यक्ष की हैसियत से यह घोषणा कर रहे थे उसका अभिप्राय यह था कि जो इस पवित्र यज्ञ में धन से अपनी आहुति दे सकते हैं वे आगे बढ़ें और भारतमाता की झोली भर दें। जो लोग निर्धन हैं उनको तन और मन से अपने भाग का उत्तरदायित्व निभाने के लिए तत्पर हो जाना चाहिये।

इसी प्रसंग में बोलते हुए मानसिंह ने कहा था—ऐसे पावन अवसर पर अपने देश की आज़ादी की रक्षा के लिए जो लोग व्यक्तिगत स्वार्थों का बलिदान नहीं करते, लोभ और मोह को तिलांजलि देकर बिना उक-साये स्वयं आगे नहीं बढ़ते, उनको मैं अत्यन्त स्वार्थी, हृदयहीन, पामर और नीच ही नहीं, देशद्रोही की भी संज्ञा देता हूँ। मित्रता के व्रत, वचन और आश्वासन जिस विश्वासघातक ने आज व्यर्थ कर डाले हैं, उसका बदला लेना हमारा धर्म है, कर्तव्य है, हमारी प्राण-संचारिणी साँस-साँस का अनिवार्य स्वर है। जो व्यक्ति इस स्वर में हमारा साथ नहीं देता मैं उसे पशु समझता हूँ!

यह तो हुई मेरे विचार की बात। अब जहाँ तक मेरे व्यक्ति का सम्बन्ध है, इस परमपावन यज्ञ में धन-सम्बन्धी आहुति देने में तो मैं इस समय असमर्थ हो गया हूँ, लेकिन एक-आध दिन में ही मैं अपने एक मात्र

तरुण पुत्र अभिमानसिंह को युद्ध पर भेजने की प्रतिज्ञा करता हूँ।

सभा का कार्यक्रम समाप्त हो जाने के बाद मानसिंह जब मंच की सीढ़ियाँ उतर रहे थे, तब एकाएक उनको बोध हुआ कि हृदय धड़क रहा है और पैर डगमगा रहे हैं। तब अपने मन को सान्त्वना देते हुए उन्होंने सोचा था—जीवन का सबसे बड़ा सौख्य तो मैंने इसी बात में समझा है कि कर्तव्य हमको जिस मार्ग पर ले जाये, हम उस पर तत्काल चलना प्रारम्भ कर दें।

अभिमानसिंह को सेना में भरती हुए अधिक दिन नहीं हुए थे। कालान्तर में उन्हें यह सूचना मिल गई कि बालोंग के युद्ध में उसने वीर-गति प्राप्त की।

मनुष्य की इच्छाओं का अन्त नहीं है। जो त्याग समर्पण के रूप में विस्फोट करके बाहर निकलता है उसमें एक प्रकार की उदार गौरव-भावना होती है। एक ऐसी तितिक्षा जो अनेक प्रकार के द्वन्दों को सहज ही अपने में समेट लेती है।

मानसिंह सोचते जाते थे। छीना-झपटी की इस अराष्ट्रीय परम्परा के विनाश के लिए मैं युद्ध का पक्षपाती हूँ। अभिमान को मैंने बड़े अभि-मान के साथ देश की आज़ादी की रक्षा के लिए भेजा था। मैं कोई कम-ज़ोरी नहीं दिखलाऊँगा। प्रेरणा और अस्तित्व का संघर्ष कभी बन्द नहीं होगा। मैं कोई प्रतिक्रिया लेकर थोड़े चला जाऊँगा। विश्वासघात की सारी संभावनाएँ नष्ट करनी ही होंगी। चाहे वह कोई हो, मेरे मन में किसी प्रकार की कुण्ठा का स्थान नहीं है। अभिमानसिंह चला गया तो चला गया, मैं-मुझे-मुझको इसका कोई पश्चात्ताप नहीं है।

चिंतन के साथ उनके आँसू गिर रहे थे।

सविता पास ही झुकी हुई खड़ी थी। उनके आँसू पोंछती हुई वह कह रही थी—आज तुमको क्या हो गया है। इस तरह तो कभी तुम नहीं रोते थे।

हालांकि सोचने के क्रम में कभी-कभी उनके कान के पर्दों पर किसी

प्रकार का स्वर अपना प्रभाव नहीं स्थापित कर पा रहा था, फिर भी उनकी अन्तश्चेतना में कुछ बातें उठती रहती थीं : श्रद्धा के दांव पर तो अपनी सबसे प्यारी वस्तु ही रखी जाती है। मैंने भी अभिमान के साथ अभिमानसिंह को देश की बलिवेदी पर भेजा था। वास्तव में मैं रो थोड़े ही रहा हूँ! हर्ष और गौरव के आँसू कौन कहता है कि दुर्बलता के चिह्न होते हैं। हृदय तुम किसी तरह की कमजोरी न दिखाना और सविता तुम तो नर्सिंग की ट्रेनिंग भी पा चुकी हो। अब तुम युद्ध-स्थल पर जाकर अपनी यही सेवा फिर सँभाल लेना।

आँसू नहीं सँभल रहे हैं और सविता पूछती है—क्या तुम मुझसे कुछ कह रहे हो!

आसन्नमरण की पावन बेला में नाना कामनाओं और द्वन्द्वों से झूमता हुआ मानव अपनी भावधाराओं में बहता-बहता कभी-कभी स्वप्न देखने लगता है।

न जाने कहाँ की शक्ति आ गई कि मानसिंह लेटे-लेटे उठ बैठे और बोले—देखो-देखो सविता, मेरा अभिमान लौट रहा है। वह घोड़े पर सवार होकर आया है। दरवाज़ा खोलो, वह मुझ से मिलने आया है!

स्वामी को पुनः तकिया की ओर झुकाकर लिटाती हुई सविता स्वाभाविक मर्मवाणी में कह रही थी—पागल मत बनो अभिमान के बाबू! कहीं कोई नहीं है।

वह आँसू पोंछती हुई स्वामी को दवा पिलाती जाती थी और सिंह अब सदा के लिए मौन होने लगा था।

एक प्रतीक्षा

देवकीनन्दन बाबू को जीवन-दर्शन से विशेष अनुराग न था। वे अकसर कहा करते थे—यह सब बकवास है। आदमी सुख के लिए जीता है, अपने आनन्द के लिए जीता है। इस बात का कोई महत्व नहीं कि उस सुख और आनन्द की उपलब्धि कैसे होती है।

और उनकी श्रीमती मनोरमा देवी को स्वामी की इस बात से घोर मतभेद था। वे महामना जानसन के इस कथन से बहुत प्रभावित थीं कि हम सब किसी-न-किसी को प्रसन्न और सन्तुष्ट रखने की आशा में ही जीते हैं।

देवकीबाबू अब एक उच्च पद पर थे। मासिक आय के हिसाब से देखा जाय तो नगर के उच्चाधिकारियों में उनका तीसरा स्थान होता था। उनका अपना बंगला था। गाड़ी भी वे अपनी रखते थे। लॉन के आस-पास सुहावने फूलों के पौधों की रक्षा और व्यवस्था के लिए माली तो था ही, दो घरेलू नौकर भी थे। गाड़ी के लिए ड्राइवर अलग था। सबके काम बँट हुए थे। वे जब परस्पर मिलते, तो या तो संकेतों से अपना अभिप्राय प्रकट कर देते, या अगर बोलते भी, तो बहुत मन्द स्वर में। स्वामी के इस अनुशासन के सम्बन्ध में भी मनोरमा देवी ने शायद किसी अरबी कहावत के आधार पर अपना एक अभिमत स्थिर कर लिया था : मौन वृक्ष पर शान्ति का फल लगता है।

देवकीबाबू अब चालीस के लगभग हो रहे थे और मनोरमा देवी छत्तीस की नहीं तो बत्तीस की अवश्य होंगी। लेकिन अब तक उनके

कोई संतान न हुई थी। बैठक में जो कभी मित्र लोग आ जमते, तो अवसर निकालकर मनोरमा देवी भी इस विचार से वहाँ आ जातीं कि मित्रों के आतिथ्य-सत्कार में कोई कमी न रहने पाये। उनकी धारणा थी कि वह आदमी सबसे बढ़ा अभागा है, जो ऐसी महत्वाकांक्षा रखता है, जिसे चरितार्थ नहीं कर सकता। जितना और जो कुछ भी हम कर सकते हैं, उतना तो हमें हर हालत में करना ही चाहिये।

कभी-कभी कोई मित्र देवकीबाबू से कहना चाहता—"यह बात समझ में नहीं आती कि आपके कोई सन्तान क्यों नहीं हुई?" पर जब वह यह बात सीधे देवकीबाबू से न कहकर अपने समीप बैठे हुए मित्र के कान में फुसफुसा देता, तो वह उत्तर देता—"बको मत, परिवार-नियोजन चल रहा है।

इस बात पर जब एक बार कहीं कई लोग हँस पड़े, तो श्रीमती मनोरमा देवी अपने पालतू कुत्ते रूबी के साथ उठकर चल दीं।

रूबी उस जाति का कुत्ता था, जिससे पिगमीज़ कहते हैं। ऊँचा कम, लम्बा कुछ अधिक, मुँह चपटा, लेकिन नाक के पास चौड़ा, नाक छोटी और उसी स्थान से सारे मुंह को टेढ़ा बनाती-सी, पूँछ पर बड़े-बड़े केशों का एक गुच्छा। छोटे-छोटे कानों पर लम्बे केश, आँखें छोटी, काली-नीली मिली हुई। बदन के सारे केश काले, मुलायम, कहीं-कहीं भूरे और काफ़ी लम्बे।

मित्रों की यह मंडली विसर्जित हो गई, तो मनोरमा देवी साहब के पास पहुँचती हुई रो पड़ीं। देवकीबाबू समझ गये, क्या बात है। वे कहने ही जा रहे थे कि मनोरमा देवी के मुँह से निकल गया—'इस उपहास के कारण तुम हो!"

अपने छद्म जीवन के अनुरूप अब देवकीबाबू मानने लगे थे कि जो सिद्ध नहीं हो सकता, वह सत्य भी नहीं हो सकता। और जिस बात का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिल सकता, वह सिद्ध भी नहीं हो सकता।

इतने में रूबी उनकी गोद में आकर अपना प्यार देने लगा। उसकी पूँछ

हिल रही थी और उसकी नाक उनका मत्था सूंघ रही थी। देवकीबाबू ने उत्तर दिया—"यह उपहास है ही नहीं। इसको कहते हैं हास्य-विनोद। मेरी समझ में नहीं आता तुम्हारा सेंस-ऑफ ह्यूमर कभी-कभी क्यों खो जाता है! फिर हमारे बीच में यह रूबी किसी संतान से कम है? तुम्हें मालूम होना चाहिये कि मनुष्य मात्र का एक ही विश्वविद्यालय है। और वह है आदर्श। आदर्श तो उच्च होना ही चाहिये।"

रूबी तब तक देवकीबाबू की गोद छोड़कर मनोरमा की गोद में मुँह डालकर पूँछ हिलाने लगा। एक ठंडी सांस जो मनोरमा के अन्त:करण से फूट रही थी, भीतर समाकर रह गयी।

रूबी बंगले के अन्दर या तो ज़ंजीर से कहीं बँधा रहता; या फिर मनोरमा देवी के साथ बना रहता। पर मनोरमा देवी जब कहीं किसी सखी के यहाँ जातीं तो रूबी की ज़ंजीर उनके हाथ में रहती। देवकी बाबू को यह अच्छा न लगता। उनका कहना था कि आदमी हो कि जानवर, सदा बन्धन में नहीं रह सकता। कभी-कभी उसे बन्धन से मुक्त भी कर दिया करो।

मनोरमा देवी ने सहज भाव से उनका यह सुझाव मान लिया। परिणाम यह हुआ कि रूबी को जब बन्धन से मुक्त कर दिया जाता, तब वह सजातीय मित्रता के अनुसन्धान में पड़ोस के बंगलों में भी चक्कर काट आता। खान-पान में साधारण रूप से उसके साथ कभी कोई भेद-भाव न बरता जाता। मनोरमा देवी जब सोफ़ासेट पर विश्राम करतीं, तो रूबी भी उनकी गोद में दुबक रहता। उसके बदन के मुलायम केशों पर हाथ फेरने में वे एक सिहरन का अनुभव करतीं और कभी-न-कभी तो उसके सिर तथा नाक पर प्यार-चिह्न भी अंकित किये बिना न मानतीं! नाश्ता करते समय मनोरमा देवी यदि उसे नमकीन बिस्किट खिलाने लगतीं, तो देवकीबाबू उसे मक्खन-चर्चित टोस्ट खिलाये बिना न चूकते।

इस प्रकार रूबी देवकीबाबू के परिवार का एक प्रिय सदस्य बन

गया था। अभाव का प्रश्न मनोरमा देवी के मन में जो कभी उठता, तो उन्हें स्वामी के इस कथन की याद आ जाती कि आदर्श सदा सच्चा होना चाहिये। तब वे झट से रूबी को प्यार दान करने लग जाती थीं।

देवकीबाबू को अपने कार्यालय से लौटने में प्राय: देर हो जाती थी। मनोरमा देवी को कभी कुछ अन्यथा सोचने का अवसर न मिले, अतः समाधान के लिए कपड़े उतारते-उतारते वे यह बतलाना कभी न भूलते कि जीवन बड़ा ही व्यस्त हो गया है। सभापत्वि के लिए कभी किसी महोत्सव में जाना पड़ता है। नियमितरूप से अख़बार बढ़ने की आदत तुम्हें है नहीं; इसलिए तुम्हें क्या मालूम ? कभी किसी संस्थान, आश्रम या उद्योग-मन्दिर का उद्घाटन करने के लिए जाना ही पड़ता है। फिर उच्च अधिकारी मित्रों की पार्टियों में सम्मिलित हुए बिना सामाजिकता का स्तर कैसे क़ायम रह सकता है ?

इन समारोहों और पार्टियों में मनोरमा देवी को साथ ले जाने में, देवकीबाबू कभी रूचि न लेते। इस सम्बन्ध में उनका विचार था कि नारी तो घर की शोभा होती है। मूल बात यह थी कि मनोरमा देवी नृत्यकला में बड़ी निपुण थीं, यहाँ तक कि अपने कौमार्य जीवन में वे कई बार विशेष पुरस्कार, डिप्लोमा, पदक और प्रशंसा-पत्र भी प्राप्त कर चुकी थीं। लेकिन उनका वर्ण कुछ श्याम था। यद्यपि रूप-सज्जा पूर्ण कर लेने पर उनकी सौन्दर्य गरिमा में किसी प्रकार का उल्लेखनीय अभाव न रह जाता था। पर उन्हें इस बात का ध्यान सदा बना रहता कि यदि किसी ने नृत्य करने का प्रस्ताव का कर दिया, तब उसे टालना मेरे लिए कठिन हो जायगा। फिर भी जीवन का यह अंग बिल्कुल ही सूना न रह जाय, इसलिए वर्ष भर में एक-आध बार अवसर देखकर वे पनोरमा देवी को फ़ोन से बुला भी लेते थे।

देवकीबाबू जब कभी अपने कार्यालय जाते तब, और जब वहाँ से लौटते, तब भी; बल्कि कहना चाहिये कि कार की यात्रा में अवश्य उनके हाथ में कोई जासूसी उपन्यास अथवा अँगरेज़ी मासिक-पत्रिका रहती।

वार्ता-विनोद, रमी, कैरम, बिलियर्ड, शतरंज आदि क्रीड़ाओं में जो समय व्यतीत होता, उनकी दृष्टि में उसका एक अलग महत्व था। किन्तु उससे परे यत्र-तत्र आने-जाने में जो समय लगता, उसकी उपयोगिता को वे विशेष महत्व देते थे।

एक दिन की बात है, क्लब में रागिणी नाम की एक नर्तकी का सांस्कृतिक कार्यक्रम था। उन्होंने मनोरमा देवी को दो बार फ़ोन किया, किन्तु फ़ोन ख़राब हो जाने के कारण उसका कोई उत्तर उन्हें नहीं मिला। रागिणी देवी के नृत्य और गान को सुनकर वे आत्म-विभोर हो उठे। जब यह कार्यक्रम समाप्त हुआ, तब रागिणी देवी को बधाई देते हुए साहब को कहना ही पड़ा, आप तो हमारे देश की एक उच्च कोटि की कलाकर्त्री हैं। आपकी क्या बात है! पर सच पूछा जाय, तो अभी मेरी तबियत भरी नहीं। मैं चाहता हूँ—किसी दिन फिर आपका कोई कार्यक्रम रक्खा जाय। उन्होंने इसके लिए क्लब के सेक्रेटरी से आग्रह भी किया और उसने उसको स्वीकार भी कर लिया।

प्रफुल्लमन देवकीबाबू अपनी गाड़ी पर बैठे हुए चले जा रहे थे और रात के ग्यारह बज रहे थे। कार की हैडलाइट में यकायक आगे कोई पड़ी हुई चीज़ दिखाई पड़ी। और निकट आने पर ड्राइवर ने गाड़ी को उससे बचाकर निकालते हुए कहा—"कोई कुत्ता मरा पड़ा है।"

एक विचारक की भाँति देवकीबाबू बोले—"आख़िर को संसार ठहरा। इसमें जीवन और मरण तो लगा ही रहता है।"

गाड़ी चली जा रही थी और देवकीबाबू कहते जा रहे थे—"फिर आवारा कुत्ते, जो मालिकों की असावधानी से इधर-उधर चक्कर काटा करते हैं, आजकल की इस व्यस्त सभ्यता में कारों, बसों और ट्रकों से पूरा संरक्षण भला कैसे पा सकते हैं! ऐसी व्यवस्था होना तो बड़ा कठिन, दुष्कर, बल्कि असम्भव है कि कभी कोई दुर्घटना ही न हो। फिर ये तो पशु ठहरे; मनुष्य की आकस्मिक मृत्यु को भी भला हम कैसे रोक सकते हैं!"

गाड़ी आगे बढ़ गयी। मिनटों में बँगला आ गया। मनोरमा देवी द्वार-मंच पर ही मिल गयीं। उन्हें सकपकाया हुआ उदास देखकर सहसा देवकीबाबू ने पूछा—"क्यों क्या बात है?"

मनोरमा देवी ने भर्राई हुई वाणी में उत्तर दिया—"रूबी का पता नहीं है! कोई दो घंटे हुए, तुम्हारी प्रतीक्षा करता-करता फाटक के बाहर चला गया था। मैंने सोचा—तुम्हें देखने के लिए सड़क पर खड़ा होगा। पर……।"

इसके आगे वे कुछ न कह सकीं।

देवकीबाबू उन्हें सान्त्वना देते हुए बोले—"घबराओ नहीं, यहीं कहीं होगा। अभी मिल जायगा।"

ड्राइवर ने गाड़ी स्टार्ट की और स्वामी के साथ मनोरमा देवी भी उसमें बैठ गयीं।

गाड़ी अभी चार फर्लाङ्ग भी न चल पायी थी कि नगर के एक मुख्य राजपथ पर पहुँचते ही एक आशंका के साथ देवकीबाबू बोले—"ज़रा यहाँ रोकना।"

गाड़ी वहीं खड़ी हो गयी। यह वही जगह थी, जहाँ से देवकीबाबू अभी थोड़ी देर पहले निकले थे।

दोनों गाड़ी से उतरकर उस मरे कुत्ते को ध्यान से देखने लगे। देवकीबाबू का मन आँधियों से घिर गया। मनोरमा का कण्ठ भर आया। नयन सजल हो उठे। एकाएक देवकीबाबू ने कुछ सोचा, कुछ स्थिर किया। फिर उनके मुँह से निकल गया। हाय यह क्या हुआ! यह तो अपना रूबी है!

फटे हुए जबड़ों से बहता हुआ रक्त जम गया था। जीभ बाहर निकली हुई थी। आँखें बन्द थीं। जिन मुलायम केशों पर हाथ फेरते हुए वे पुलकित होकर सिहर उठते थे, मनोरमा अपना अभाव भूली रहती थी, वे रक्त से सन गये थे!

मनोरमा देवी वहीं बैठकर रो पड़ीं और देवकीबाबू सिर पर हाथ रखकर मन-ही-मन कहने लगे—मेरा रूबी आवारा नहीं था। आवारा तो वास्तव में.......।

अब उनकी आँखों से भी आँसू पटक पड़े।

बहुतेरी बातें, जिन्हें हम मुँह खोलकर कह नहीं पाते, आँसू उन्हें सहज ही अपनी मूक भाषा में कह डालते हैं !

पुनर्मिलन

अम्बिका यह बात कभी भूल न पाता था कि फूलवती कभी कोई वस्तु उससे न माँगती थी। कभी उसने यह नहीं कहा कि मुझे कोई कष्ट है। अस्वस्थता में भी वह हँसकर ही बोलती। तापमान देखने के लिए कभी जो अम्बिका उसके बदन पर हाथ रख देता तो वह एक सिहरन के साथ बोल उठती—"अरे हटो! मुझे कुछ नहीं होना-जाना है। दो-चार दिन में उठकर फिर बछेड़ी बन जाऊँगी।"

आज जब अम्बिका को उसकी इन बातों का स्मरण आ जाता है, तो उसकी देह में रोमांच हो उठता है।

उस दिन कहीं उसने हँसते-हँसते कह दिया—"बछेड़ी!"

"क्यों? बछेड़ी नहीं तो भैंस हूँ? अच्छी नहीं लगती तुम्हें!"

और एक निःश्वास के साथ अम्बिका सोचने लगता है—"वैसा कल-हास क्या फिर कभी अपना होकर इस भाँति आँखों में भरने को मिलेगा कि मैं ठगा-सा उसे निहारता रहूँ!

उस दिन अम्बिका जमना के स्मशान-घाट से ऊपर मुख्यपथ की ओर पैदल ही चल रहा था। ये पावन स्मृतियाँ उसके मानस में धुंध बनकर छा गयी थीं। बीणा के सारे तार झनझना रहे थे। पवन सन-सन डोल रहा था। नीम और पीपल के वृक्षों की टहनियाँ हिल-हिलकर झूम रही थीं। चक्कर काटती हुई हवा धूल उड़ा रही थी और दाएँ ओर खड़े वृक्ष से कैथा अपने आप गिर पड़ा था!

तभी सहसा उसे स्मरण आ गया एक दिन, जब उसका स्वास्थ्य

बिल्कुल ठीक था। दोपहर का समय होगा। वह उसके निकट जाकर पूछने लगा था—"मेरी धोती साफ़ कर दी ?"

"मैं रामी धोबन तो बन नहीं सकती कवि चण्डीदास, जो बिना धुलाई लिये दिन भर तुम्हारे और तुम्हारे घर भर के कपड़े साफ़ करती रहूँ !" उसकी छवि-माधुरी पर मुग्ध होकर अम्बिका ने जब उत्तर में कुछ न कहा, तो वह आप-से-आप बोली—"नाराज़ हो गये ! अरे, मैं तो यूँ ही कह रही थी कि देखूँ तुम कहते क्या हो ! फूल तो सम्पूर्ण समर्पण के लिए ही होते हैं ! तुम्हारी सेवा न करूँगी, तो मन कैसे भरेगा ?—तृप्ति कैसे होगी ? धोती तुम्हारे पलँग पर, तकिया के नीचे, तहायी हुई, रक्खी है !"

मैंने कह दिया—"मैं तुम्हारे ऊपर कभी नाराज़ हो सकता हूँ भला !"—तो वह बोली—"इन बातों को तुम क्या जानो ! मेरा तो ख़याल है, जो नाराज़ नहीं होता, वह पूरा प्यार पा ही नहीं सकता !"

उस सयय उसका लोम-लोम विहँस उठा था।

उसके इस कथन पर वह उसे क्षण भर देखता रहा था। उसके आगे के दोनों दाँत अधखुले दिखाई दे रहे थे और कपोलों पर अमृत-कूप बन गये थे। वह छवि-मुद्रा क्या कभी भूल सकती है ! तत्पश्चात् वह जो चलने लगा, तो उसने हाथ बढ़ाकर उसकी कमीज़ का छोर पकड़ लिया था।

गोरे-गोरे हाथ, पतली-पतली अँगुलियाँ। कलाइयों में काँच की सुनहरी चूड़ियाँ, अनामिका में एक पतली मुद्रिका, जिसमें छोटे-छोटे लाल-हरे-नीले नग।

कमीज़ का छोर उसके हाथ से छूट गया, तो वह संकुचित हो उठी थी। फिर जो कुछ न कहकर वह चलने लगा, तो फूलवती ने उसकी धोती थाम ली।—"अब जाते कहाँ हो ? बड़े भाग्य से तो आये। और जब आ गये, तो अब बैठ लो न, थोड़ी देर ?"

अम्बिका के मन में आया, जान पड़ता है, यह मुझे अपना प्यार

देना चाहती है। तब वह विचार में पड़ गया : अस्वस्थता की स्थिति में देहरस का विनिमय वर्जित कहा गया है। फिर भी जब उसने उसे भुज बन्धन में लपेट लिया, तब उस सिहरन में एक बार तो ऐसा जान पड़ा, जैसे वह इस संयोग का लोभ संवरण न कर पायेगा।

लेकिन उसे बापू का यह कथन याद था कि तपस्या जीवन की सबसे बड़ी कला है और प्रमाद शरीर का नहीं, वास्तव में मन का होता है। अतः फिर वह सँभल गया।

एक नि:श्वास ! और आज वह सोचने लगता है—'यदि वह जानता कि फूलमती सचमुच देवलोक-बासिनी हो जायगी, तो वह इस अवसर पर कभी न चूकता। परिणाम चाहे जो होता।'

माना कि संसार में प्यार की सीमा नहीं है। पर ऐसा एकनिष्ठ प्यार !

हाँ, तो उसने कहा—"क्या करूँ बैठकर ! तुम्हारा जी अच्छा नहीं है।"

तब मदिर हास के झकोर में वह बोल उठी थी—

"अच्छा बोलो, कै दिन में अच्छी हो जाऊँ ?"

"ही-ही-ही-ही !—सच कहती हूँ, सब कुछ मेरे हाथ में है। जितने दिन चाहूँ, जी लूँ; जब चाहूँ तब सदा के लिए सो जाऊँ। सच ! ही-ही-ही-ही !"

×

फूलमती का शव बैलगाड़ी पर जमुनाघाट ले जाया गया था। साथ में गाँव के दस व्यक्ति थे। दाह-संस्कार अम्बिका ने ही किया। धैर्य्य-पूर्वक वह सारे कृत्य निपटाता रहा। अन्त में जब वह आगे-आगे चला और पीछे-पीछे साथ के लोग, तो उसे अपनी जीवन-संगिनी की ये बातें बार-बार स्मरण आने लगीं। रह-रहकर उसे जान पड़ता, कोई उचक-कर उसके कान में कुछ कहने के बहाने कह देता है—फुऊऽऽ ! और फिर एकाएक खिल-खिलाकर हँस पड़ता है।

'मन में मोरे हूक उठत जब कोयल कूकत बन में !' फिर झंझावात का एक बवण्डर-सा उसके सामने आकर एक ओर चल देता है और चिन्तन का क्रम चलता जाता है।

—उसे सदा मेरा ध्यान बना रहता था। जिस दिन उसकी तबियत ठीक रहती, वह ज़रूर मिलती और मिलती भी तो साक्षात्कार होते-होते गोद में आ बैठती। कभी मेरी छाती पर सिर रखकर लेट जाती, कभी आँखों-में-आँखें डालकर मुस्करा उठती। कभी घण्टों उसी भाँति हँसती-हँसाती मेरे मन से खेलती रहती और कभी-कभी तो गोद में सो भी जाती ! मैं कभी कुछ कहने को होता तो बोल उठती—"क्यों ? क्या मैं ऐसी भारी हूँ कि सहन नहीं होती ! फूल तो ठाकुर जी के ऊपर चढ़ते ही हैं। फूलमती मेरी नाम ठहरा। देखते नहीं, कितनी हलकी लग रही हूँ ! ही-ही-ही-ही !"

मैं चलने लगा तो सदा की भाँति मुस्कराती हुई बोली—"अब जाते कहाँ हो ! बैठो ! अरे बैठो !"

मैंने कह दिया—"अब बैठकर क्या करूँ ? मुझे जाना जो है।"

तब भौहों में बल डालकर उसने कहा था—"जाना है ! भला कहाँ जाना है ?"

मैंने उत्तर दिया—"किशोर के यहाँ।"

"अभी कल उसका ब्याह हुआ है। क्यों बेचारे का क़ीमती समय नष्ट कर रहे हो ?"

"मुझे उसने घर पर आमंत्रित किया है।"

"ओः तो सीधे तौर से यह क्यों नहीं कहते कि उसकी दुलहिन का मुख देखने जा रहे हो ! ना बाबा, मुझे डर लगता है कि कहीं···!"

मैंने कह दिया—"बको मत ! जाने दो मुझे।"

तब लेटी-लेटी वह मुस्कराती हुई बोली—"बिगड़ो मत मुझसे ! मुझे पता है कि किशोर ने दुलहिन बड़ी सुन्दर पायी है। अच्छा बोलो, तुम उसे देखकर मुझे भूल तो न जाओगे ? वैसे डरने की कोई बात तो

नहीं है । मगर तुम आखिर को पुरुष जो ठहरे ! —भमरा बड़ा नादान रे !"

"फिर वही मूर्खता की बात ।"

"सच कहती हूँ, मुझे बहुत पसन्द आयी । आदमी होती, तो डोरे डाले बिना न मानती । मगर कुछ भी हो, उसकी देह भर ही सुन्दर है। मन इतना सुन्दर नहीं, जो प्रलोभन और मोह से परे हो । मुझे मालूम है, वह जीवन में कोई सीमा नहीं देखना चाहती । और तेवर तो उसमें इतना है कि तुमको जो कभी पा गयी, तो तुम चक्कर में पड़ जाओगे! अपमान करते उसे देर नहीं लगती । मगर तुमको इससे क्या ? रूप फिर भी बड़ी चीज़ है । निमंत्रण देनेवाली आँखें मिलते ही आदमी सब कुछ भूल जाता है । फिर उसमें आकर्षण भी बहुत है । मैं जब उसके पास बैठती हूँ, तो उठने का मन नहीं होता । लेकिन मेरे भी कभी दिन थे बाबू । याद हैं वे दिन, जब रात-रात भर सो नहीं पाती थी !"

और बात-की-बात में उसकी आँखें भर आयी थीं ।

अम्बिका को फूलमती की वह मनोहर छवि किसी प्रकार भूल नहीं रही थी । —हास जैसे विद्युत का हो, अधर-पल्लव गुलाब के दलों से कोमल और रसीले । आँखें बड़ी-बड़ी कजरारी । कभी पलक खोलती, कभी मूंद लेती । कभी मेरी क़मीज़ का बटन खोलने लगती, फिर आप ही बन्द कर देती । कभी मेरी गोद में आकर चुपचाप विचार-लीन हो जाती ।

उस दिन मैंने कह दिया—

"मुझे इन बातों से क्या मतलब ? किशोर मेरा बाल-सखा है ।"

वह एक तेवर के साथ बोली—"अरे हटो, मुझसे बनते हो ! इस मामले में कोई सगा नहीं होता । मैं भी तो दूर के नाते तुम्हारी बहन लगती थी । फिर मेरे घर दिन भर में दस चक्कर क्यों लगाते थे ? बड़े भाग्य थे, जो तुम्हीं को मिल गयी । वरना कौन जानता है, तुम मुझे किस घाट का पानी पिलाते । झूठ कह रही हूँ ? ही-ही-ही-ही !"

अम्बिका के आँसू थम नहीं रहे थे । —ये स्मृतियाँ भगवान की

अप्रतिम सृष्टि है। मरुभूमि में प्यास से विकल मानव जब छटपटा उठता है, तब ये स्मृतियाँ ही तो नयनों के माध्यम से झरना बनकर निस्सरण कर उठती हैं।

इन बातों का परिणाम यह हुआ कि उस दिन मैं उसी का होकर रहा, जबकि किशोर ने मेरे लिए कई चीज़ें बनवाई थीं, महीनों उलहना देता रहा था।

वही किशोर, जो अब साथ-साथ चल रहा था, बोला—"पागल हो रहे हो! यह क्यों नहीं सोचते कि भाभी ने साथ ही कितना दिया! सदा ही वे बीमार बनी रहती थी। स्वयं तुमने कहा था—"मैं तो तंग आ गया उसकी बीमारी से!"

स्मशान की ये बातें अम्बिका स्मशान में ही छोड़ आया था। वह समय विचार-विमर्श का था भी नहीं। फिर जो लोग अधिकारी थे, वे समय और संयोग पाकर अधिकारपूर्वक कह भी रहे थे।

मातापंडित ने कहा था—"वह बहू नहीं थी, देवी थी। दस वर्ष बीत गये उसे मेरे घर आये हुए, लेकिन हँसी के सिवा आज तक मैं उसका बोल ही नहीं सुन पाया! वह जब से चली गई है, जान पड़ता है, इस घर की सारी शोभा तिरोहित हो गई है!"

और अम्बिका की माँ चारपाई पर पड़ी बोल उठी थीं—"बहू तो आयेगी, पर ऐसी भला क्या आयेगी! मुझे तो बड़ी बिटिया भी इतनी प्यारी नहीं, जितनी बहू थी।"

फिर महीनों बाद जब अम्बिका का चित्त कुछ साधारण स्तर पर आया, तब किशोर से उसने स्मशान से लौटते समय कही हुई बात के उत्तर में कह दिया—

"तुम उसे कैसे जानते किशोर, जब मैं ही उसे पूर्णरूप से नहीं समझ पाया था।"

उत्तर के साथ वह मन-ही-मन सोचने लगा—'मैं उस पत्नी को नारी नहीं समझता, जो अपने पति की भूख शान्ति करने में समर्थ न हो,

स्वामी के इधर-उधर भटकने के अवसरों पर जो उसकी सुरक्षा का समर्थ माध्यम न बन पाये। पशु को तो बाँधकर ही रखा जाता है। आदमी के अन्दर जितना पशुत्व होता है, योग्य पत्नी उसका शमन और मांगलीकरण बनकर रहती है। अपनी छवि-माधुरी से, सर्वस्व समर्पण के नाना प्रकारों से, हास-परिहास, मान-मनुहार, क्रीड़ा-कौतुक—यहाँ तक कि तर्क-वितर्क के प्यारे और स्नेह से भीगे हुए विविध प्रयोगों से।

फिर वह किशोर को अपनी बगिया में आम खिलाने ले गया। तभी एकाएक एक प्रसंग में वह बोल उठा—"उसकी देह छूट गई है, देह के नाते छूट गये हैं; तन छूट गया है; तन की माँग और प्रेरणा की मनुहार छूट गई है। एक तरह से वह मेरा मन ले गयी है; मन की सारी क्रीड़ा, स्वच्छन्दता और कल्पना की सारी उड़ान ले गयी है और छोड़ गई है अपना एक जागृत इतिहास, जो अब मेरे लिए एक स्वप्न बन गया है। तुम नहीं जानते किशोर कि मृत्यु का सबसे बड़ा दंड क्या होता है!"

किशोर को इस प्रकार की बातें सुनने में मज़ा बहुत आता था। इसलिए उसने कह दिया—"हाँ, भई जानता तो नहीं हूँ।"

तब अम्बिका बोला—"जानता मैं भी नहीं था किशोर। पर कल जब मैं बरोठे में खड़ा था, पिताजी द्वार पर रामेश्वर अवस्थी से बात करते-करते कहीं बोल उठे—

"मृत्यु किसी की सिफ़ारिश नहीं सुनती और घूस भी नहीं लेती। जब वह आ जाती है तो फिर किसी तरह पिंड नहीं छोड़ती।"

"हाँ, बात तो सही है दद्दुआ। जो आदमी मर गया सो मर गया। वह फिर लौट नहीं सकता।"

उत्तर में रामेश्वर चाचा बोले—"मगर मैं कहता हूँ कि लौट सकता है।"

फिर वे छप्पर के नीचे बैठकर बड़ी देर तक बातें कहते रहे।

एक दिन पंडित रामेश्वर अपने खेत की नाली साफ़ करते-करते वहीं से सिर उठाकर बोल उठे थे, फावड़े का बेंट उनके हाथ में था।

उन्होंने फावड़ा वहीं छोड़ दिया। गमछा उनके कन्धे पर था, धोती कमर से बाँधे हुए थे। फिर वे पास आ गये। नंगे सिर, देह पर कोई वस्त्र नहीं; कन्धों और भुजाओं पर कहीं-कहीं मिट्टी लगी हुई थी। पसीना चमक रहा था। पास आकर दोनों हाथ लांगी से पोंछ-पाछकर उसके खूंट में बँधी चुटकी भर तम्बाकू होंठ में दबा ली और बोले—"मैंने ऐसे बच्चे को देखा है, जिसने पूर्वजन्म का घर-द्वार बतला दिया है, गड़ी हुई दौलत बतला दी है।"

अम्बिका स्थिर दृष्टि से उन्हें देखने लगा। फिर वे आगे बढ़कर बोले—"उसे अपने पुराने माता-पिता के पास ले जाया गया तो उनसे उसने और भी ऐसी गुप्त बातें कीं कि सब-के-सब स्तम्भित हो उठे। उसने बतलाया कि यहाँ एक डब्बे में अशर्फियाँ रखी हुई थीं और डब्बा बाल्टी के अन्दर रखा गया था।

माता रो पड़ी और उसकी विधवा बहू के मुँह से एक चीख निकल गयी। थोड़ी देर बाद जब लोग स्थिर हुए तो पिता बोले—"बेटा, तो फिर लौट आओ न अपने इसी घर में?"

"मगर बच्चा-सो-बच्चा।" रामेश्वर तम्बाकू एक ओर पिच्च से थूकते हुए बोले—"उसका भोलापन कहीं जा सकता था! फिर इस जन्म के पिता का प्यार भला वह कैसे भूल सकता था? एकटक उन्हीं की ओर घूमकर देखने लगा। मानो उस भंगिमा के द्वारा कह रहा हो—"अब मैं बेटा किसका? तुम्हारा कि इनका?"

पास खड़े हुए उस बच्चे के पिता से न रहा गया। बोला—"ऐसा कैसे हो सकता है! अब तो यह छुन्ना मेरा है।"

अम्बिका और किशोर एक-दूसरे को देख रहे थे।

रामेश्वर बोले—"जब उसने यह उत्तर दिया, तो पूर्व पिता का चेहरा सफ़ेद हो उठा! पहले तो उससे कोई उत्तर न बन पड़ा। पर फिर कुछ सोचता हुआ वह बोला—"हाँ भई, ऐसा कैसे हो सकता है! अब छुन्ना आप ही का है।"

आँसू पोंछती हुई पूर्व-माँ को अब भी सन्देह बना हुआ था। सहसा उसने प्रश्न कर दिया—"उस जन्म में, जब तुम मेरे बेटे थे, तब तुम्हारा नाम क्या था बेटा ?"

छुन्ना ने कह दिया था—"अम्मा, मेरा असली नाम मनोहर था।"

आखें आँसुओं से तर थीं, फिर भी पूर्व माता के आनन पर पुलक-हास दौड़ गया। बोली—"और प्यार का नाम ?"

बड़ी-बड़ी आँखों के पलक एक बार बन्द करके फिर उनको खोलते हुए उत्तर दिया—

"प्यार का नाम था—मुन्ना।"

सारा परिवार स्तब्ध-विस्मित, पुलकित और गद्‌गद् हो उठा। क्रम-क्रम से सबने उससे बातें कीं। प्रश्नों की झड़ी लग गयी। अन्त में शेष जीवन की साध लिये हुए, सास की ओर देखती हुई पूर्वपत्नी ने पूछा—"अम्मा, आपकी आज्ञा हो तो मैं भी दो बातें कर लूँ।"

"ज़रूर-ज़रूर।" उस माँ का उत्तर था।

विधवा की आँखों में आँसू टपक रहे थे और कण्ठ आर्द्र हो उठा था। अब वह सोच रही थी—'आत्मा तो वही है, शरीर न सही।'

फिर वह विधवा नारी उसे अपने निजी शयन-कक्ष में ले गयी, जिसमें उसके स्वामी का चित्र टँगा हुआ था। उसको देखते ही बच्चे ने अपना पूर्वचित्र पहचान लिया। बोला—''यह मैं हूँ।''

विधवा ने उसे भुजबन्धन में लेकर छाती से चिपका लिया। बारम्बार वह उसका मुख चूमती रही।

बच्चा इस नये अनुभव से घबरा उठा, तो वह रोने लगा।

तभी एकाएक उस नारी को मूर्छा आ गयी।

छुन्ना का रुदन सुनकर उसके पिता, घर के लोगों के साथ, उसी कक्ष की ओर दौड़ पड़े।

तब तक छुन्ना आँगन की ओर चल दिया। तुरन्त वह पिता के पास जा खड़ा हुआ।

फिर पिता-पुत्र घर लौट आये।

अम्बिका ने पूछा—"फिर ?"

रामेश्वर ने उत्तर दिया—"फिर उसी दिन उस विधवा की मृत्यु हो गयी। उसकी मूर्छा किसी प्रकार भंग न हो सकी।"

मिलन : एक बलिदान

इतिहास की आँखें पत्थर से भी अधिक कठोर और निर्मम होती हैं। ढाई सौ वर्ष पूर्व राजस्थान में सम्राट आलमगीर के गुप्तचर, जोधपुर के महाराज अजीतसिंह की खोज में, इधर-उधर विचर रहे थे। डंके की चोट पर यह घोषणा चारों ओर प्रसारित कर दी गयी थी कि जीवित या मृत किसी भी अवस्था में, जो कोई भी, महाराज अजीतसिंह का सिर लाकर सामने उपस्थित कर देगा, उसे पाँच हज़ार दीनार पुरस्कार में दिये जायँगे। उधर महाराज सिरोही क्षेत्र की ऊँची-नीची असम पर्वतीय कन्दराओं में छिपे हुए छद्मवेश में अज्ञात जीवन बिता रहे थे। यद्यपि इसी समय उनके लब्धकीर्ति सामंत वीर दुर्गादास जालौर के दुर्ग को घेरे हुए थे।

अज्ञातवास के जीवन में भेद खुल जाने की चिन्ता तो रहती ही है, कष्ट भी कम नहीं होता।

ज्येष्ठ मास की धूप तप रही थी और लपट के तमाचे खाते हुए महाराज अजीतसिंह, एक कन्दरा में बैठे, एक मृग का आमिष पका रहे थे। कहते हैं, उनके बदन पर जो धोती थी, उसमें थिगड़े लगे हुए थे। भूख के कारण उनके प्राण व्याकुल थे, आँच के निकट रहने से मुख तमतया गया था। आँखें लाल हो रही थीं और बदन से पसीना टपक रहा था! इतने में शंका के साथ कुछ आहट पाकर वे चौंक पड़े—

"कौन ?"

तभी एक सामंत ने आगे बढ़कर कह दिया—"देखता हूँ महाराज

बड़े कष्ट में हैं।"

ऐसे संकटकाल में सहानुभूति की बात सुनकर महाराज की बाँछें खिल गयीं। मुस्कराते हुए बोले—"तो फिर कठिनतम प्रश्न हल किये बिना जीवन का कोई महत्व भी नहीं होता ठाकराँ।"

गोविन्दसिंह वृद्ध थे, उनके केश पक गये थे। महाराज की बात सुनकर समर्थन के स्वर में सिर हिलाकर उन्हें कहना ही पड़ा—"बेशक-बेशक।"

उपयुक्त आसन के अभाव की बात सोचकर कुछ संकोच के साथ महाराज बोले—"खड़े रहने से काम नहीं चलेगा, आप विराज ही न जायँ यहाँ?"

सामंत गोविन्दसिंह अपने साथ एक परिचायक लाये थे। तब तक वह पीछे छिपा खड़ा था। अब उसने आगे बढ़कर शिष्टाचार के साथ कहा—"श्रीमान ये मझिली गढ़ी के स्वामी श्रीमंत गोविन्दसिंह हैं। इस समय ये एक शुभ समाचार के साथ पधारे हैं।"

परिचायक इतना कहकर शिष्टता के साथ पृथक् हो गया। गोविन्द-सिंह बोले—"महाराज मैं बादशाह आलमगीर का मनसबदार रहा हूँ। बादशाह की ओर से मुझे बदनौर के किलेदार रहने का भी सौभाग्य प्राप्त रहा है। पर अब वह दुर्ग वीर दुर्गादास के अधिकार में आ गया है और महाराज यह जानकर प्रसन्न होंगे कि सम्राट आलमगीर का दक्षिण में निधन हो गया है!"

आँखें मूंदकर महाराज मन-ही-मन कहने लगे—"मैया, तेरी करुणा!" फिर प्रसन्नता से पुलकित होकर बोले—"अच्छा, दुर्गादास ने बदनौर का दुर्ग भी ले लिया!" और कुछ सन्देह के साथ पूछा—"आलमगीर क्या सचमुच मर गया?"

"हाँ महाराज, ऐसा ही हुआ है।"

महाराज अजीतसिंह को आश्चर्य हुआ और नयन मूंदकर उन्होंने फिर मन-ही-मन कह लिया—'मैया, तेरी करुणा!'

तब तक अवसर देखकर गोविन्दसिंह बोल उठे—"अब मेरा कोई अवलम्बन नहीं रह गया महाराज। दो रोटी का सहारा हो जाता, तो बड़ी दया होती।"

महाराज अजीतसिंह हँसे बिना न रह सके। बोले—"यहाँ मुझे दो क्या, एक रोटी भी खाने को नहीं मिली और जानते हो कितने दिन से ?" फिर हाथ की अँगुलियाँ उठाकर कह दिया—"चार दिन से ! फिर भी आप बैठें ठाकुरां। मृग के आमिष से मैं आपका सत्कार करने के लिये तत्पर हूँ।"

महाराज का इतना कहना था कि गोविन्दसिंह के साथ आयी हुई एक महिला तथा कुमारी आपस में कुछ खुसफुसाने लगीं।

इतने में महाराज हाथ जोड़कर बोल उठे—"अपराध क्षमा हो माता जी। स्थिति के विधान से आप लोगों की ओर मेरा ध्यान नहीं गया !"

"यह महाराज का बड़प्पन है।"

"बड़प्पन न कहकर आप इसे संकटकालीन धर्म क्यों न कहें ? आप देख ही रही हैं। इस कन्दरा में स्थान की कितनी कमी है ! फिर भी आप इधर निकल आयें।"

महिला हँसने लगी। कुमारी के मुख पर रूमाल आ गया और महाराज संकुचित हो उठे।

महाराज का शील-सौजन्य देखकर कुछ साहस के साथ महिला बोली—"महाराज अपनी ही कहेंगे या मेरी भी कुछ सुनेंगे !"

स्तब्ध से होकर महाराज बोले—"आज्ञा माताजी ?"

महिला ने गम्भीरता के साथ कह दिया—"मैं अगर आपको कोई वस्तु भेंट करूँ, तो वह आपको स्वीकार करनी पड़ेगी।"

महाराज ने कुछ सोचकर उस तरुण कुमारी की ओर दृष्टि डालते हुए संक्षेप में उत्तर दिया—"अवसर देखकर।"

महिला बोली—"अवसर देखकर ही मैंने ऐसा प्रस्ताव किया है

महाराज।"

महाराज ने कुमारी की ओर दृष्टिक्षेप करते हुए सकुचाते-सकुचाते उत्तर दिया—"देखा जायगा।"

महिला बोली—"और भी एक बात है महाराज, आपको आज ही यहाँ से दूसरी जगह प्रस्थान कर देना है। सम्राट की सेना के एक गुप्त-चर को इस कन्दरा का पता चल गया है। सैनिकों का दल किसी समय भी यहाँ आ सकता है।"

आश्चर्य के साथ महाराज ने पूछा—"हो सकता है। पर यह समा-चार आपको मिला कैसे माताजी ?"

महिला बोली—"महाराज को कदाचित् ज्ञात नहीं कि मैं युद्धवीर-सिंह की बहन हूँ, जो महाराज के··· !"

कुछ सोचते हुए महाराज बीच में ही बोल उठे—"मैं समझ गया माताजी। लेकिन बिना किसी आधार के हम जायेंगे कहाँ ?"

इतने में गोविन्दसिंह ने कह दिया—"महाराज मैं बड़े बोल नहीं बोलता; लेकिन कभी-न-कभी ऐसा अवसर आ जाता है कि आधार को नवीन चेतना और प्रयोग की आवश्यकता होती है। फिर महाराज यह क्यों भूल जाते हैं कि राजाखेड़ा में हमारे एक सम्बन्धी रहते हैं। आज की रात हम वहाँ निश्चितता के साथ बिता सकते हैं।"

महाराज ने उत्तर दिया—"अच्छा तो फिर पहले भोजन कर लिया जाय और उसके बाद प्रस्थान हो।"

तभी महिला ने कह दिया—"महाराज भोजन कर लें, हम लोग तो भोजन करके चले हैं।"

महाराज बोले—"ऐसा कैसे हो सकता है ? थोड़ा-बहुत प्रसाद तो लेना ही पड़ेगा।"

हाथ जोड़कर महिला बोली—"हम लोगों को तो आप क्षमा कीजिये।"

गोविन्दसिंह ने कह दिया—"मैंने आजसे आपको अपना प्रति-

पालक मान लिया है; मैं आपकी आज्ञा तो क्या, एक सामान्य इच्छा भी नहीं टाल सकता।"

लगभग छः घण्टे बाद, जब गोविन्दसिंह महाराज अजीतसिंह को साथ लेकर राजाखेड़ा में, अपने सम्बन्धी कुलवन्तसिंह के यहाँ पहुँचे, तो गढ़ी के बाहर ही एक स्थान पर वृक्ष के पास ऊँट से उतरकर गोविन्दसिंह बोले—"महाराज यहाँ थोड़ी देर ठहरने की कृपा करें, मैं ठाकराँ को लेकर आता हूँ।

इतना कह कर वे झट गढ़ी के अन्दर जा पहुँचे।

सारी बात सुनकर कुलवन्तसिंह ने कहा—"ठाकराँ, आपका विदित ही है कि मैं महाराजा अजीतसिंह का अनुचर ही नहीं, भक्त भी हूँ। लेकिन इस समय महाराज को अपने यहाँ ठहराना मेरी सामर्थ्य के बाहर है।"

आशा के विपरीत कुलवन्तसिंह का उत्तर सुनकर गोविन्दसिंह का मुख आवेश से रक्त-वर्ण हो उठा। वे फेंट में तलवार डाले हुए थे। सहसा उसके मूठ पर उनका हाथ जा पहुँचा। उन्होंने दाँत पीसते हुए उत्तर दिया—"कृतघ्न कहीं के। महाराज के सम्मान में इस तरह का उत्तर देते हुए तुमको लाज नहीं आयी। कान खोलकर सुन लो, महाराज आप ही के यहाँ ठहरेंगे। मैंने उनको आश्वासन दिया है और मेरा आश्वासन अपना एक अर्थ रखता है।"

कुलवन्तसिंह अब वृद्ध हो गये थे। श्वेत दाढ़ी की गाँठ के पर ऊपर हाथ फेरते हुए शान्त भाव से उन्होंने उत्तर दिया—"क्रोध युद्ध का क्रियात्मक धर्म है। किन्तु विचार-विमर्श के समय क्रोध करना, अनुभव हीनता और बचपन का लक्षण है, ठाकराँ। आपको विदित होना चाहिये कि हमारी गढ़ी में आज कई दिन से सम्राट आलमगीर के एक सेनापति ठहरे हुए हैं। उनके साथ सेना के कई योग्यतम अधिकारी भी हैं। आप समझते हैं, महाराज के आने का समाचार उनको नहीं मिलेगा! यह असम्भव है। मैं महाराज के प्राणों को संकट में नहीं डाल सकता।"

तब गोविन्दसिंह ने कह दिया—"अच्छी बात है, तो मैं महाराज को छद्मवेश में लाऊँगा।"

इस प्रकार महाराज अजीतसिंह ने रात को उस गढ़ी में शान्तिपूर्वक विश्राम किया।

गढ़ी का राजकीय भवन। महाराज गद्देदार पलँग पर लेटे हैं। दीवार के बीच में लगी गिर्री एक रस्सी के सहारे घूमती जाती है और तीन गज लम्बा पंखा पूर्व से पश्चिम की ओर चलता और लौटता जाता है। चारों कोनों पर चन्दन के चूरमे की बत्तियाँ जल रही हैं। अमन्द सुवास से महाराज का शयन-कक्ष सुरभित हो रहा है। कक्ष के बीच एक दंड में लगे हुए शीशे के कमल सुशोभित है, जिनमें जलती हुई मोम-बत्तियाँ जगमगा रही हैं।

इतने में द्वार पर बैठी एक दासी ने होटों पर तर्जनी लाकर संकेत करते हुए धीरे से कहा—"महाराज विश्राम कर रहे हैं राजकुमारी।

राजकुमारी ने यद्यपि मन्द स्वर में उत्तर दिया—"तो क्या हुआ? मैं उनके विश्राम में कोई विघ्न डालने तो आयी नहीं हूँ। मैं तो उनको एक गुप्त सन्देश देना चाहती हूँ।"

दासी ने राजकुमारी की रूपराशि देखकर कठिनाई से मुस्कराहट रोकते-रोकते, अधरों पर दाँत जमाकर, गम्भीरता से उत्तर दिया—"मुझे सब मालूम है। कल प्रातःकाल देना वह सन्देश। अब आज कुछ नहीं हो सकता।"

महाराज सोच रहे थे—"पानी बरसे-चाहे न बरसे, लेकिन आकाश में धुँधले नीले मेघ, जान पड़ता है, छाये ही रहेंगे। ऐसे संकट काल में राजकुमारी दुर्गावती का यह पावन प्रणय! कुछ समझ में नहीं आता मैया!

एक निःश्वास!

इतने में एक अपरिचित नारी, स्वर उनके कान में जा पड़ा—"तुम अपनी सीमा से बाहर जा रही हो द्वार-रक्षिका।"

महाराज सोचने लगे—'बिल्कुल नया स्वर है, राजकुमारी दुर्गावती के सिवा भला और किसका हो सकता है ? कितना अच्छा हुआ कि मैंने द्वार बन्द नहीं करने दिये !'

"माना कि राजाज्ञा ही मेरी सीमा है राजकुमारी ! लेकिन उसके परिपालन में मैं पूर्ण स्वतंत्र हूँ । मैं आपको किसी प्रकार अन्दर नहीं जाने दे सकती ।"

दुर्गावती ने अपना नाम न बतलाकर उत्तर दिया—

"लेकिन तुमको मालूम नहीं द्वार-रक्षिका, राजाज्ञा से भी एक बड़ी वस्तु होती है, राजेश्वर की सुरक्षा । तुमने अगर मुझे अन्दर न जाने दिया, तो विवश होकर मुझे अपनी शक्ति का प्रयोग करना पड़ेगा ।"

—'निश्चय ही यह राजकुमारी दुर्गावती का स्वर है ।' प्रेरणा विमोहित महाराज एकाएक उठ बैठे और बोले—"कौन ?"

राजकुमारी ने आगे बढ़कर उत्तर दिया—"महाराज मैं हूँ दुर्गावती ।"

महाराज ने वहीं से कह दिया—"दुर्गावती को आने दो द्वार-रक्षिका ।"

पास पड़े हुए मोढ़े पर बैठने का संकेत करते हुए महाराज बोले—"आओ राजकुमारी ।"

दुर्गावती ने मोढ़े पर बैठते हुए कहा—"महाराज मैं पहले आ नहीं रही थी । लेकिन माता जी ने कहा—यह समय संकोच का नहीं है बेटी । यह तो एक राज-धर्म का पालन है । फिर जिनका साथ तुम्हें जीवन भर देना है·········। महाराज क्षमा करेंगे । मैं उनकी पूरी बातें आपसे कह नहीं पाऊँगी ।"

रूप की माया बड़ी विलक्षण होती है । राजकुमारी ने जब यह बात बीच में ही तोड़ दी, तो महाराज विमुग्ध होकर बोले—"इतना ही बहुत है । बहुतेरी बातें बिना कहे ही प्रकट हो जाती हैं राजकुमारी । अब कहो, इतना धर्म-संकट लेकर तुमने पदार्पण किया कैसे ? यहाँ जब स्वयं

मैं एक अतिथि के रूप में हूँ, तब मेरी समझ में नहीं आता, मैं तुम्हारा स्वागत कैसे करूँ ?"

राजकुमारी घबरा उठी और एक संभ्रम के साथ बोली—"महाराज मैं एक आवश्यक काम से चली आयी। सम्राट के सेनापति को मालूम हो गया है कि श्रीमान यहाँ ठहरे हुए हैं !"

महाराज पहले तो कुछ सकपका गये, फिर साहस के साथ बोले—"तुम चिन्ता न करो राजकुमारी। मैया हमारी सब तरह से रक्षा करेगी।"

"इसका तो मुझे विश्वास है महाराज।···तो बस, मुझे यही सूचना आपको देनी थी।"

"बहुतेरी सूचनाएँ बड़ी प्राणदायिनी होती हैं राजकुमारी।"

दुर्गावती मोढ़े से उठकर खड़ी हो गयी। वह जब चलने लगी तो महाराज पलँग से नीचे उतरकर उसके पास आकर बोले—"तो तुम लौट जाओगी राजकुमारी। इतनी जल्दी !"

रोमांचित राजकुमारी महाराज की ओर एक-टक देखती रह गई। एकाएक उसकी आंखों में आनन्दाश्रु छलक आये। महाराज ने प्यार के साथ उसे कंठ से लगाते हुए कह दिया—"युद्ध और प्रेम में कुछ भी वर्जित नहीं होता राजकुमारी।"

जागरूक दुर्गावती एक झटके साथ महाराज के वक्ष से दूर हटकर बोली—"इसी रात भर में श्रीमान को अपनी सेनाएँ बुला लेनी हैं। ऐसे संकटकाल में महाराज की ऐसी प्रेरणा !······ !!"

"मिलन के आदान-प्रदान का कोई समय नहीं होता राजकुमारी ! जीवन का अर्थ है क्षण-क्षण का आनन्द और सौख्य।"

और कथन के साथ महाराज ने स्वयं ही द्वार बन्द कर लिया।

दुर्गावती बोली—"महाराज ने आज चार दिन बाद भोजन पाया है और कर्त्तव्य तो बड़ा निर्मम होता है। इसलिए क्षमा करें महाराज, इस समय राजधर्म का पालन मुझे ऐसी अनुमति नहीं देता कि मैं···!"

कथन के साथ नमित दुर्गावती का सिर महाराज के कण्ठ से जा लगा। उसने दृढ़ता से कह दिया—"मुझे क्षमा कर दें महाराज।"

दूसरे दिन प्रातःकाल होते-होते राजाखेड़ा का वह क्षेत्र युद्ध-भूमि बन गया। महाराज अजीतसिंह को अपने साथियों और सेनाओं के साथ एकाएक पालकी से कूदकर नारी वेश में ही तलवार उठानी पड़ी।

इस युद्ध में महाराज की प्राण-रक्षा जब संकट में जा पड़ी, तब दुर्गावती ने भी अपनी सम्पूर्ण शक्ति उत्सर्ग कर दी। पर मुग़ल सेना अत्यधिक थी। महाराज अजीतसिंह का बचना दुष्कर था। बरछा और तलवार का जो भी आक्रमण महाराज पर होता, कुमारी दुर्गावती बीच में पड़कर उसे अपने ऊपर ले लेती। बरछा घुस जाने के कारण जब महाराज के पैर से बहुत-सा रक्त निकलने लगा तभी दुर्गावती ने अपनी साड़ी फाड़कर उसे कसकर बाँध दिया।

इतने में वीर दुर्गादास की सशक्त सेना ने आकर गढ़ी को घेर लिया और थोड़ी ही देर में "हर हर महादेव" के घनघोर नाद से क्षेत्रीय गगन मण्डल गूंज उठा।

महाराज अजीतसिंह का जय-जय नाद होने लगा।

काल के चरण जहाँ पड़ते हैं, वहाँ कुछ-न-कुछ होकर ही रहता है। महाराज अजीतसिंह के प्राण तो बच गये; इस युद्ध में उन्हें विजय भी प्राप्त हुई, किन्तु जब अजीतसिंह खोजते-खोजते दुर्गावती के पास पहुँचे, तब तक वह चेतनाशून्य होने लगी थी। समक्ष बैठा देखकर जब दुर्गावती ने लक्ष्य किया, महाराज की आँखों में आँसू आ गये हैं, तब वह बोली—"महाराज रोएँ नहीं, यह मेरी यात्रा का समय है; महायात्रा का!"

महाराज ने आँसू पोंछते हुए उत्तर दिया—"और साथ ही विजय-यात्रा का।"

अधखुली आँखों से आँसुओं के मोती बहाती हुई दुर्गावती बोली—"आशीर्वाद दीजिये कि दूसरे जन्म में भी मुझे आपकी सेवा करने का अवसर मिले।"

महाराज सोचने लगे—'इससे अधिक प्यारा समर्पण और क्या हो सकता है?' उन्होंने कुछ निर्मम होकर कह दिया—"अब यह मोह छोड़ो दुर्गावती। जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि इसी बात में है कि कर्तव्य जिस मार्ग पर ले जाये, मनुष्य उसी पर चल दे।"

महाराज का इतना कहना था कि दुर्गावती की आँखें सदा के लिए मुँद गयीं।

महाराज सिसकियों के स्वर में मन-ही-मन कह उठे—'जाती हो तो जाओ, मेरी सुरक्षा में अपने प्राण तक उत्सर्ग कर देने का यह गौरव मेरे लिए सदा गर्व का विषय बना रहेगा!'

इस अवसर पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मर्मवाणी याद आती है—'आमी सकल गर्व छाँड़ि दिबो, तोमार गर्व छाँड़िबो ना।"

उपहार

विमला खाना परोस रही थी। कमल बैठा पत्र लिख रहा था। वह सोचता था कि जब इसे समाप्त कर लूँगा, तभी उठूंगा। देर ही क्या है! कुछ भी तो और अधिक नहीं लिखना है। बस यही दो-तीन—हाँ, दो ही पंक्तियाँ और लिखने को हैं कि फिर मैं हूँ और भोजन।

और विमला मन-ही-मन झुँझला रही थी कि जब तक मैं शाक पकाऊँ, तब तक तो आफ़त मचा दी; दो-दो मिनट में विकल हो-होकर पूछते रहे कि कितनी देर है—कितनी देर है? और अब, जब मैं खाना परोसने लगी, तो 'आया, आया; बस अभी हाल आया' कह रहे हैं—मगर आते नहीं! बस, इनकी यही प्रकृति मुझे अच्छी नहीं लगती। कितनी तकलीफ़ होती है खाना पकाने में! बनाना पड़े, तो मालूम हो जाय। और मालूम क्या हो जाय, खुद भी तो न खा सकें उसे। फिर भी किसी तरह जो मर-खप के बना भी लूं, तो यह हाल है इनका कि मुझे ही बेवकूफ़ बनना पड़ता है। कुछ कहो, तो झट जबाब दे बैठेंगे कि फिर बेकार बनाती हो—मैंने तो हज़ार बार कहा कि महाराजिन रख लो।... मैं भी बैठी रहूँगी, इसी तरह। जब बुलाना व्यर्थ है, तो बुलाया ही क्यों जाय? न, मैं अब उन्हें नहीं बुलाऊँगी। नहीं-नहीं, किसी तरह नहीं।

"अरे सुनती हो?"

विमला को ही लक्ष्य करके कमल ने कहा था। लेकिन विमला ने सुनकर भी नहीं सुना। उसने कोई उत्तर नहीं दिया। वह क्यों उत्तर दे? किसका उत्तर दे? किसे उसके उत्तर की अपेक्षा है? जब कहते-

कहते हार गई, तब नहीं आये। और अब इतनी देर के बाद भी, वहीं से कहते हैं—सुनती हो? कौन सुनती है? कोई नहीं सुनती! क्यों सुने कोई? क्या पड़ी है उसे, जो सुने? वह नहीं सुनती है। कोई नहीं सुन रहा है। कोई सुनने क्यों लगा? वह सुनती तो है, मगर नहीं सुनती। हाँ, नहीं सुनती।

कमल अब उठकर उसके पास चला आया। वह चला तो आया, पर निकट खड़ा रहकर बोला—"कुछ लोग आ गये हैं। उनसे इसी समय दो बातें कर लेनी हैं। बेचारे बड़ी दूर से आये हैं। मुझसे यह नहीं हो सकता कि उन्हें बैरंग लौटा दूँ। कुछ वक्त देना ही पड़ेगा। कुछ ऐसी ही आवश्यकता है। समझती हो न? तुम अब खाना खालो। मुझे शायद देर ही लग जाये। शायद क्या, बल्कि देर लग जाना निश्चित है।"

विमला ने पहले तो चाहा कि वह चुप रहे। अब भी उनकी इस बात का कोई उत्तर न दे। किन्तु वह वास्तव में इस प्रकार की नारी नहीं है। परिस्थिति और कारण को लेकर नियोजित मर्यादा की अवमानना करना उसकी प्रकृति के प्रतिकूल है। वह अतीत से उलझी रहती है; क्योंकि उसी का प्रभाव लेकर भविष्य को देखती है; किन्तु वर्तमान की उपेक्षा उसे स्वीकार नहीं होती।

अतएव उसने कहा—"किन्तु क्या दस-पाँच मिनट के लिए उन्हें रोक नहीं सकते? वे लोग क्या इस समय तुम्हारा भोजन करना भी रोक देना चाहेंगे? तुम्हारी असुविधा का क्या उन्हें कुछ भी ख़याल न होगा?"

कमल ने लक्ष्य किया, विमला खुद भी भूखी है। समय भी तो अधिक हो गया है। ऐसी परिस्थिति में भी उसने भोजन बनाया है। कितनी देर से वह प्रतीक्षा में बैठी है और अब, जब कि मुझे उसके साथ बैठकर खाना चाहिये, तब मैं उससे इस प्रकार का प्रस्ताव कर रहा हूँ!

उसने एक बार फिर जो विमला के उत्तप्त अरुण मुख की ओर ध्यान से देखा, तो उसे अपना प्रस्ताव सर्वथा अप्रीतिकर प्रतीत हुआ।

वह लौट पड़ा। लौटते हुए कह गया—"अच्छा तो मैं अभी आया। उन्हें कमरे में आदर के साथ बिठा आऊँ और साथ ही दस मिनट तक और अधिक प्रतीक्षा करने की अनुमति ले आऊँ।"

"ओः! तुम आये हो—मेरे राधाकान्त बाबू—यह डेपूटेशन लेकर अच्छा। लेकिन, यार बहुत दिनों में मिले हो; और फिर इस डेपूटेशन के साथ। खैर, मैं अभी आया। मैंने अभी तक भोजन नहीं किया है। कुछ इतने आवश्यक कार्यों में लगा रहा कि भोजन करने तक को समय पर न उठ सका। अभी जा ही रहा था कि पता चला, आप लोग तशरीफ़ लाये हैं।" कमल ने उल्लास-मुखरित स्वाभाविक ढँग से कहा।

"अच्छा तो कर आओ भोजन; लेकिन यार अकेले-ही-अकेले भोजन कर लोगे!" राधे बाबू ने हास के मृदुल दोलन में, साधारणतया कह दिया—उसी प्रकार, जैसे कोई भी मित्र दूसरे से ऐसी स्थिति में प्रायः कही देता है।

"अच्छी बात है, मेरा सौभाग्य! चलो, तुम भी चलो।" कमल के उत्तर के साथ उसका हार्दिक उल्लास भी मिश्रित होकर फूट निकला।

"ऐसे मैं नहीं जाता। इस तरह तुमको तो कुछ मालूम न होगा, किन्तु दूसरी आत्मा को जो आकस्मिक कष्ट होगा, उसे मैं कैसे सहन करूँगा? न यार कमलेश, मुझे इस समय भोजन नहीं करना। मैं तो यों ही कह उठा था।" राधे बाबू कहते-कहते गम्भीर हो उठे।

कमल ने लक्ष्य किया, यह राधाकान्त एक समय कितना चटुल था! क्लास भर इसके मारे परेशान, बल्कि एक प्रकार से आन्दोलित रहता था। और आज देखता हूँ कि इस कालान्तर में वह कैसा विवेकशील बन गया है।

तब उस राधाकान्त के प्रति कमल पहले अजेय आदर-भाव दे देख-कर रह गया, फिर कुछ सोच-समझकर बोला—"नहीं राधे, असुविधा की कोई बात न होगी। कम पड़ेगा तो बाजार से कुछ और मँगवा लूँगा। चलो-चलो; अब तुम्हें चलना ही पड़ेगा।"

"मेरे एक मित्र भी खायँगे विमला ! बड़े ज़बरदस्त आदमी हैं। इच्छामात्र से सफलता इनके चरण चूमती रही है। मुझे इनका क्लास-फ़ैलो रहने का गौरव प्राप्त हो चुका है। पर मुझे पता ही न था कि जेल-जा-जाकर भी यह शैतान बजाय दुर्बल पड़ने के इतना मोटा पड़ जायगा ! देखती क्या हो, वज़न में तीन मन से कम न होगा। यह जो कुछ भी तुमने बना रखा है, मैं तो समझता हूँ, केवल इसके लिए भी काफ़ी न होगा।"

कमल ढूँढ-ढूँढकर ऐसे शब्दों का प्रयोग कर रहा था, जिनसे विमला को पता चल जाय कि उसका यह मित्र ऐसा-वैसा साधारण व्यक्ति नहीं है। बड़ा आदमी तो वह है ही, साथ ही उसका घनिष्ट मित्र भी है।

तब विमला ने स्वामी के इस घनिष्ट मित्र को केवल एक दृष्टि से देखकर साड़ी को सिर पर, आगे तक, कुछ और खिसका लिया। दो थालियों में भोजन जैसा परोसकर रखा था, उसे पूर्ववत् न रखकर उसमें थोड़ा-थोड़ा कम कर लिया; क्योंकि आकस्मिक आतिथ्य और समय-असमय के जलपान के लिए जो मिष्ट और सलौने खाद्य-पदार्थ उसने बना रखे हैं, उनका भी उपयोग उसे अब करना है। बाज़ार से ही कुछ मँगाना पड़ा, तो फिर गृहस्थी की मर्यादा ही क्या रही !

तुरन्त उसने कहा—"आइये।"

कमल अपने साथ राधे को लेकर भोजन करने बैठ गया। वह भोजन कर रहा है और साथ-ही-साथ कुछ सोचता भी जाता है। यों निरन्तर उसे कुछ-न-कुछ सोचना ही पड़ता है। बात कम, काम अधिक—यही उसकी प्रकृति है। किन्तु जब कोई मित्र आया हो और साथ में बैठा भोजन कर रहा हो, तब भी मौन ही बने रहना तो कुछ अधिक उत्तम या आवश्यक, प्रीतिकर या शोभन प्रतीत नहीं होता। मानो इसी बात को लक्ष्यकर कमल ने कह दिया—"और कहो राधे; अच्छी तरह से हो न ? किसी प्रकार की कोई असुविधा या कष्ट या···और क्या कहूँ ?"

अन्तिम शब्द कहते-कहते कमल राधे के मुँह की ओर देखकर हँस पड़ा।

"देखता हूँ, तुम बहुत बड़े आदमी हो गये। तुमने इतना वैभव अर्जित कर लिया कि तुम्हें देखकर मुझे ईर्ष्या होती है; तो भी तुम्हारा वह असाधारण सारल्य ज्यों-का-त्यों बना है!" राधे भोजन करते हुए अपनी ये बातें इतने मन्द क्रम से करता जाता है कि न तो उसकी आहार-गति प्रतिहत हो पाती है, न वार्ता-विनोद में ही किसी प्रकार की अरोचक यति का संयोग ही हो पाता है। साथ-ही-साथ वह कभी-कभी विमला पर भी एक दृष्टि डाल देता है।

"तो तुम्हारा खयाल यह है कि काल-गति से हमारी प्रकृति भी बदल जाती है। लेकिन भाई राधे, मैं ऐसा नहीं मानता। जीवन के प्रकम्पित अवधान हमारी गति बदल सकते हैं, हमारे आचार-व्यवहार की रूपरेखा को भी उलट-पुलट डालते हैं। मानता हूँ। किन्तु...किन्तु हमारी नैसर्गिक प्रकृति पर उनका अनुशासन कभी चल नहीं सकता, क्षणिक परिवर्तन करने में भले ही वे यदा-कदा सफल होते रहें।"

राधे कमल की इस बात को सुनकर मुस्कराने लगा।

तब कमल उसके इस हास की यथार्थता को लक्ष्य करके बोला—"जान पड़ता है, मेरे साथ तुम्हारा मतभेद पूर्ववत् बना है।"

विमला दोनों को बातें करते छोड़कर भण्डार में चली गई थी। लौट आकर उसने दो-दो कटोरियों में मिष्टान्न और नमकीन पदार्थ दोनों थालियों के निकट रख दिये। तब उसी समय एक कटोरी से कुछ खुरमे एक साथ उठाकर मुँह में डालने के पूर्व राधे बोला—"तुम्हारे गार्हस्थ्य-जीवन के इस सफल स्वरूप के लिए मैं तुम्हें बधाई देता हूँ कमलेश!"

कमल हँसने लगा, बोला—"अच्छा यह बात है! धन्यवाद।" फिर विमला की ओर उत्फुल्ल लोचनों से देखकर कहने लगा—"सुनती हो विमला, राधे तुम्हें बधाई दे रहा है।"

विमला चाहती तो उत्तर में कुछ कह सकती थी। किन्तु वह कुछ

कह न सकी । हाँ, विकल्प में थोड़ी मुड़कर, कढ़ाई में रखे हुए शाक को एक कटोरे में सँभालकर रखने में व्यस्त अवश्य हो गई ।

राधे ने उस समय न तो विमला को कुछ कहने का अवसर दिया, न कमलेश को । अब वह उसकी उसी बात पर आ गया, जिस पर उसे मतभेद था । वह बोला—"हाँ, तुम्हारी उस बात को तो मैं भूल ही गया था, प्रकृति-परिवर्तन के सम्बन्ध में जो तुमने अभी कही थी ।"

"हाँ-हाँ कहो । मैं जानना चाहता हूँ, इस विषय में तुमने क्या अनुभव किया है, तुम्हारे विचार क्या हैं ?" कमल ने कहा ही था कि राधे बोल उठा—"असल बात यह है कमलेश भाई, कि मनुष्य की प्रकृति ही को पहले ज़रा समझ लेने की ज़रूरत है । क्या उसकी प्रकृति है, और क्या अप्रकृति, वास्तव में इसी का समझ लेना आवश्यक है । लोग प्रायः कहा करते हैं, फलाँ आदमी तो बिलकुल ही बदल गया । लोग उसकी रूपरेखा, उसके आकार-प्रकार को देखकर ही प्रायः इस तरह की बातें कह डालते हैं । पर परिस्थितियों के कुचक्र में घूमते और छिन्न-भिन्न होते हुए उसके क्षण-क्षण के जीवन को देखकर वे यह नहीं सोचते कि प्रकाश सदा प्रकाश ही रहता है । यह बात दूसरी है कि कोई प्रकाश दिन का हो, कोई निशा का । अब यहाँ प्रश्न यह है कि दिन का प्रकाश तो प्रकाश है और उसे संसार स्वीकार करता है; किन्तु जो प्रकाश रजनी के अन्तर से फूटा हुआ है, वह अंधकार क्यों है ?

तब तत्काल उत्तरंग मानस से कमलेश बोल उठा—"वण्डरफुल ! कितनी अच्छी बात तुमने अनायास कह डाली ! वाह ! !"

विमला ने उसी समय एक बार राधे के उस तेजोमय मुख की ओर दृष्टिक्षेप किया । थोड़ी देर से उसकी छाती के भीतर भूकम्प-कालीन रत्नाकर की भाँति जो एक भीम विस्फूर्जन हो रहा था, राधे के इस कथन को लेकर और फिर एक बार उसकी ओर देखकर आप-से-आप वह बिलकुल शिथिल-ध्वस्त हो उठा । जिस व्यक्त अतीत ने आज अभी उसके मन-प्राण तक को बार-बार स्तम्भित, विकल-विकम्पित कर-करके

एक अव्यक्त अभियोग से अतिशय अस्थिर किंवा विमूढ़ कर डाला था, निमेष मात्र के इस वैकल्पिक उपायन से उसके पराभूत चित्त की सारी दुर्बलता बात-की-बात में निष्प्रभ प्रशान्त हो उठी।

भोजन करके दोनों मित्र उठ खड़े हुए।

रात के ग्यारह बजे हैं। कमलेश सो रहा है। पास ही विमला भी लेटी हुई करवटें बदल रही है। कुछ स्वप्न उसके मानस-पट पर उतर आये हैं।

"तुम्हारी यह आदत अच्छी नहीं है, भैया!"

"कौन-सी?"

"पूछते हो, कौनसी!"

'लो, जब मालूम नहीं है, तब क्या पूछना भी गुनाह है?"

"हाँ, है गुनाह! मैं तुम से भैया जो कहती हूँ।"

वह चुप रह गया। उसका मुख यकायक उतर गया। कोई बात वह फिर न कह सका। तब वह चलने लगी। कुछ उद्विग्न होकर अपना तिरस्कार अपने ऊपर लादकर।

किन्तु उसी समय उसने सुना, वह कह रहा है—"मेरी इस बुरी आदत के अनुभव करने का अवसर न तुम्हें अब कभी मिलेगा विमला! मैं यहाँ से चला जाऊँगा।"

वह लौट पड़ी। अपनी मर्यादित गम्भीरता से विचलित होकर वह बोली—"सचमुच, क्या तुम कानपुर छोड़ दोगे?"

"छोड़ना ही पड़ेगा विमला; क्योंकि मनुष्य की प्रकृति बदल नहीं सकती।"

उत्तर में वह कुछ कह न सकी थी। यद्यपि उन निर्वाक्, निस्पन्द निष्ठुर क्षणों ने उसके इस जीवन को ही व्यर्थ कर डाला, तो भी उन क्षणों को वह फिर कभी पा न सकी—आज तक न पा सकी!

किन्तु वह था कितना दृढ़ प्रतिज्ञ ! उसने कानपुर छोड़ ही दिया। यद्यपि उसने कोई अपराध नहीं किया था—एकमात्र यही आदत थी उसकी कि वह मुझे देखकर पुलकित हो उठता था। इसके उस हास्य-मुखरित आनन की उद्दीप्त आभा, उसकी उल्लास-दृप्त आँखें, अपना आन्तरिक भाव प्रकट करने का लोभ संवरण न कर करती थीं।

मुहल्ले की बात ठहरी। वह कभी अपनी सखियों के साथ निकलती, कभी माँ-भाभी के साथ। इन सबके साथ निकलने पर भी वह उसकी ओर एक बार देखे बिना मानता न था। फलतः एक अदम्य बहिरभिमुखी लज्जा से वह बिलकुल संकुचित तथा अभिभूत हो उठती थी।

बस, यही उसका अपराध था—और उससे संलग्न यही उसकी असु-विधा ! और उसके बाद यह आज का दिन है।

"तुम्हारे गार्हस्थ्य जीवन के इस सफल स्वरूप के लिए मैं तुम्हें बधाई देता हूँ।" उसने कहा था—

और मेरे गार्हस्थ्य जीवन का यह कैसा सफल स्वरूप है !

किन्तु जो प्रकाश रजनी के अन्तर से फूटा हुआ है, वह अन्धकार क्यों है ?

कौन कहता है कि वह अन्धकार है ? क्या अब भी किसी में इतना साहस है कि वह उसे अन्धकार कह सके ?

किन्तु यह बात तो तुमने अपने आपको देखकर कह डाली है; क्योंकि तुम एक प्रकार के अकल्पित स्वप्न हो।

किन्तु यह तो एक कविता हुई। और इस विमला के भीतर जो नारी है, वह तो वैसी उस प्रकार की निरी कविता नहीं है। उसका एक शरीर है, एक हृत्पिंड। कभी उसे छूकर देखते, तो जान पाते कि बाहर से प्रकाशमयी झलक मारनेवाली इस विमला के भीतर का अन्ध-कार अभी तक पूर्ववत् स्थिर है। अपने स्थान से वह टस-से-मस नहीं हुआ है। अभी तक उसके भीतर की गर्वित नारी उसी प्रकार तृषित अतृप्त है, जैसी कभी पहले थी। उसके प्रकृत स्वरूप का सांगोपांग अर्थ किया

ही नहीं जा सका—यहाँ तक कि वह अभी तक माँ भी नहीं हो सकी ! फिर भी तुम उसके गार्हस्थ्य जीवन का साफल्य देखने चले थे ! ओः ! इस परिवार का अन्तरंग न देखकर उसके बाह्य स्वरूप पर तुम ऐसे मुग्ध हो उठे कि एक बधाई भी उसे दे डाली ! किन्तु तुम्हारी यह बधाई तो उन्हीं के लिए थी । मेरे साथ उसका सम्बन्ध क्या ?

न, यह बधाई मेरे लिए नहीं है, नहीं है ।

किन्तु ठीक तो है । उन्होंने कह डाला था—"सुनती हो विमला ? राधे तुम्हें बधाई दे रहा है ।"

"लेकिन उनके कहने से भी वह बधाई मेरे लिए कैसे हो सकती है ? वह उनके लिए थी, हाँ उन्हीं के लिए । तो क्या वास्तव में वे बधाई के पात्र हैं ?

क्यों भला ? क्या वे बधाई के पात्र केवल इसलिए हैं कि मेरे जीवन की यह धारा भी उन्हीं के साथ-साथ प्रवाहित हो रही है ।

तो तुम सोचते हो कि यह विमला अभी तक इसमें समर्थ है कि उसकी संगति का योगमात्र किसी को भी बधाई का पात्र बना सकता है ?

उफ़, तुम ऐसा क्यों मानते हो राधे भैया ? क्या तुम अपनी प्रतिज्ञा भूल गये ? क्या तुम्हें याद नहीं रहा कि तुमने किसी को कुछ कहा था ? कहा था कि मेरी इस बुरी आदत के अनुभव करने का अब तुम्हें कभी अवसर न मिलेगा !

···तो फिर इतने दिनों के बाद तुमने यह अवसर क्यों दिया ?"

झर झर झर !

ये आँसुओं के बूँद हैं कि सुधार्णव के मोती ?

ओः ! जीवन के ये दस वर्ष यों ही बीत गये । युग पलटा, कितने भूकम्प आये, कितनी रिम-झिम रातें, कितनी शारदी निशाएँ, कितने वासन्तिक दोलन आये और गये, किन्तु राधे की छाया भी कहीं न देख पड़ी । और एक युग के बाद, जान-बूझकर भी नहीं, अनायास वे जो इस कुटीर में आ ही पड़े, तो यह विमला, यह मूर्त्त कालिमा अपने आपको न

देखकर दोष देती है उसे, जो दिवाकर की भाँति वरेण्य और मनस्वी है !

"तो तुम मुझसे बोले क्यों नहीं ? कुछ विस्मय और कुछ दुलार से ओत-प्रोत होकर तुमने मुझे निकट पाकर, मेरा नाम लेकर पुकारा क्यों नहीं ? तुम्हारी मुद्रा इतनी गम्भीर क्यों बनी रही ? एक बार भी सिर उठाकर तुमने मुझे ध्यान से देखा क्यों नहीं ? तुम, मुझसे छूटकर जाओगे कहाँ ?"

झर झर झर ।

ये अमृत के बूँद क्रमागत रूप से क्यों आ रहे हैं ? यों झरने से बूँद तो निरन्तर आ सकते हैं; किन्तु इस प्रकार के अमृत-बूँदों को वह कहाँ से लायेगा ? और उनके निस्राव के साथ यह निःस्वन कैसा है ! ये रुदन की सिसकियाँ हैं कि निर्झर की उत्ताल ऊर्मिमालाओं का अजस्र मुखरित महोल्लास ।

"एँ ! तुम रोती हो विमला ?"

यकायक उठकर झट से विद्युत-प्रकाश प्रस्फुटित कर कमल विमला के पलँग पर आकर उससे मिश्रित होकर बैठ गया । फिर उसके सिर की कुन्तलराशि, वेणी और उसके अन्तिम छोर तक अपना बाम हस्त फेरते हुए बोला—"रोती क्यों हो विमला ? बतलाओ । मैं जानना चाहता हूँ, क्या मुझसे कोई अपराध हुआ है ?"

अब विमला आँसू पोंछकर, स्थिर होकर, बैठ गई । उसका एक हाथ अब भी कमल के हाथों में था । उसके रुद्र गम्भीर मुख की अप्रकृत भंगिमा देखकर कमल यकायक स्तब्ध हो उठा । उसी समय विमला बोली—"अपराध ?···तुम अपराध की बात पूछते हो ?"

"हाँ ।"

"तो इस राधे को तुम अन्दर क्यों ले आये ? किससे पूछकर ले आये ?"

कमलेश अवाक् हो उठा। तुरन्त तो वह कोई भी उत्तर न दे सका। किन्तु क्षण-भर के बाद बोला—"वह मेरा एक मित्र था, चिर-परिचित मित्र। उसका स्वागत-सत्कार करना मेरे लिए आवश्यक था···किन्तु वह कोई भी हो, उसके सम्बन्ध में इतना सोचने की आवश्यकता ही क्या है?"

"वह क्यों आया था?"

"एक प्रस्ताव लेकर।"

"क्या उत्तर दिया?"

"उसकी बात मान लेना ही मैंने उचित समझा। स्वदेश के पीछे उसने अपना जीवन उत्सर्ग कर रखा है। उसे निर्विरोध सदन में जाना चाहिये। उसके पक्ष में मैंने अपने-आपको रोक लिया है।"

"जी—व—न—उ—त्स—र्ग कर—र—खा है!" विमला ने अतिशय मन्द स्वर में अटक-अटककर इस तरह कहा कि कमल उसकी अपरूप मुद्रा को देखकर चकित-स्तम्भित हो उठा। क्षण-भर रुककर वह बोला—"बात क्या है विमला? मैं ज़रा साफ़-साफ़ जानना चाहता हूँ।"

"वह मेरा शत्रु है। मेरी जीवन-धारा को उसने व्यर्थ ही में विकृत करने की चेष्टा की है। मुहल्ले के नाते से मैं उसकी बहन होती हूँ। फिर भी जान-बूझकर उसने मेरी अवहेलना की। मैं इसे कैसे सहन कर सकती हूँ?"

"अरी पगली—यह मेरी ही भूल है! लेकिन तुम जानती हो विमला, मैं कुछ आज का नया भुलक्कड़ नहीं हूँ।···ख़ैर, मुझे इसका दुःख है। चलते-चलते वह अपनी सोने की घड़ी तुम्हें भेंट-स्वरूप दे गया है। उसने कहा भी था—यह घड़ी मेरी बहन को दे देना।' तुम उसे ले लो अभी। वह मेरे कोट की भीतरी जेब में पड़ी है।"

और विमला सोचती है—यह उपहार है कि मृत्यु!

इन्द्रजाल

दिलीप ने देखा, अनु झट से दौड़कर उसके निकट नहीं आयी, वरन् खम्भे की ओट में खड़ी हो गयी। क्षण भर उसने दिलीप की ओर देखा, फिर उस दृष्टि-विस्तार को समेटती हुई वह यकायक विमनस्क हो उठी।

दिलीप को प्रतीत हुआ—"अनु लजा गयी है। वह अब दूसरे की हो गयी है। विवाह के पश्चात् उसका गौना भी हो गया है; फिर भी वह अपनी दृष्टि में उसे ग्रहण करता ही चला गया। किसी भी प्रकार उसकी ओर से अपने आपको विलग कर लेने की भावना वह स्वीकार न कर सका। वह बराबर सोचता ही रहा—'वही तो अनु है; अब तक वैसा ही भोला मुख बना है, वही विमोहक छवि-माधुरी। कहीं कुछ भी तो नहीं बदला है। हाँ, इतना परिवर्तन भले ही हो गया हो कि उसकी कुन्तल-राशि की मध्यरेखा पर, भाल के उत्तर प्रान्त में, थोड़े सिंदूर विन्दु और झलक उठे हैं। साथ ही पैरों की अँगुलियों में श्वेत मछलियाँ भी और आ गयी हैं।

किन्तु ये सब तो बाह्य परिवर्तन हैं। दिलीप को उससे कोई आपत्ति नहीं हो सकती। अनु जो उसके पास झट से आ नहीं सकी, एक बार उसे देख कर ही ठिठुक कर रह गई, अपने इस मनोभाव से क्या स्पष्ट रूप से यह नहीं प्रकट करती कि उसके मन-प्राण में अब भी वह उसी प्रकार मूर्तित है, किसी भाँति उसे बाहर नहीं फेंक सकी है।

और अनु ?

उसके मन में एक बार आया कि वह भागकर पीछे लौट जाय, या और कहीं जाकर छिप रहे। दिलीप को उसका बोध तक न हो सके।

किन्तु एक बार जो उसने उसे देख पाया, तो उसके पैर भूमि से चिपक गये। नतमुखी होकर वह जैसी खड़ी थी, वैसी ही खड़ी रह गयी। लौट पड़ने की बात को लेकर उसका अन्तःकरण तत्पर न हो सका। वह सोचती रह गयी—दिलीप, माना कि उसका कोई नहीं है, तो भी वह अभी तक उसका 'दिलीप दद्दा' तो बना ही है। क्या ऐसा भी कभी सम्भव हो सकता है कि वह अपने ऐसे 'दद्दा' से लजाकर छिप रहने को तैयार हो जाय ! दिलीप के लिए जैसी यह अवहेलना की बात है, वैसी ही स्वतः उसके लिए भी अशिष्टतापूर्ण। विमल मन के लिए लिप्सा—अमर्यादित, अवैध और अनियन्त्रित लिप्सा—जैसे वर्जित है, वैसे ही अप्रीतिकर, अशिष्ट, अशोभन और तिक्त उपेक्षा-भाव भी तो सर्वथा अनुचित है, क्षुद्रता-द्योतक।

अनु की माँ अकस्मात् एक नवागत को आँगन में देखकर पहले तो एकदम विस्मयाकुल हो उठीं, फिर क्षण-भर में ही उसे पहचान कर विपुल उल्लास से बोलीं—"आओ लल्ला, बैठो।" और एक छोटी-सी मचिया बैठने के लिए उन्होंने दिलीप के आगे कर दी।

दिलीप कभी पन्द्रह वर्ष का था और तहसील के हाईस्कूल में पढ़ता था। बड़े दिन की छुट्टियों में घर आया था। ढेरों संतरे, सेब, केले, काजू-किशमिश, पिस्ता-अखरोट अपने साथ लाया था। संध्या का समय था। अनु उस समय उसके घर में ही, उसकी माँ के पास बैठी हुई, उनसे बनियाइन बुनना सीख रही थी। दिलीप को आया जानकर वह उठ बैठी और बोली—"चाची, अब मैं जाती हूँ।"

अनु ग्यारह वर्ष की हो गई थी और गाँव के स्कूल में पढ़ती थी। बचपन से ही वह दिलीप को दादा कहती आ रही थी। इससे भी पूर्व उस समय—जब दिलीप सात वर्ष का था और गाँव के स्कूल में पढ़ता था—अनु उसके आगे नंगी खेला करती थी। दिलीप स्कूल से लौटता,

अनु दूर से उसे देखकर दौड़ पड़ती और उसके पैरों तक लटकती धोती को छूती हुई उससे लिपट जाती। अनु कनक-वर्णा थी और शरीर से भी बहुत स्वस्थ रहती थी। रास्ते-चलते पड़ोसी तक उसे गोद में लेकर खिलाने में सुख पाते थे। दिलीप के कोई बहन न थी, न उसके घर में कोई और छोटा बच्चा। वह भी पड़ोस की अनु को दुलराने-खिलाने में बड़ा सुख अनुभव करता था।

हाँ, तो अनु को अपने घर लौटता हुआ जानकर दिलीप माँ से कहने लगा—"अम्मा, अनु जा रही है।"

अनु चल खड़ी हुई थी। दिलीप की माँ ने कहा—"अरी, क्या चली ही गई अनु ?"

अनु खड़ी हो गई और वहीं से बोली—"क्या है चाची ?"

"अरी सुन। बड़ी शरमीली बनी है।"

अनु लौट पड़ी। एक बार उसने दिलीप की ओर देखा, एक बार चाची को। फिर नीचे की ओर मुँह करके चाची के पास आकर खड़ी हो गयी।

चाची ने ढेर-के-ढेर फल और मेवे अनु की धोती के छोर में भर कर बाँध दिये। वह लौटकर जाने लगी। चाची ने उसकी ठुड्ढी उठा-कर, बाम कपोल पर प्यार की एक हलकी चपत-सी जमाकर कहा—"ठगिनी कहीं की !" फिर मन-ही-मन सोचा, विचारकर स्थिर किया कि इसके साथ दिलीप का ब्याह हो सकता, तो कितना अच्छा होता !

अनु और भी लजा गई। कुछ बोली नहीं, चलती ही गई। फिर दिलीप जब तक पढ़ने को चला नहीं गया, अनु चाची के घर नहीं आयी।

दिलीप चाची की चरण-धूलि मस्तक पर लगाकर मचिया पर बैठ गया।

चाची ने पहले तो आशीर्वाद दिया। बोलीं—"सदा सुखी हो लल्ला।" फिर पूछा—"कब आये ?"

"कल आया हूँ चाची। दस दिन की छुट्टी है।" दिलीप ने नपे-तुले शब्दों में कह दिया। वह इधर-उधर देखता रहा। उसके जी में आया कि वह उठकर तुरंत चल दे, किन्तु कुछ सोचकर थोड़ी देर बैठ लेना ही उसने उचित समझा।

अनु कहीं चली गयी थी।

चाची भीतर जाकर कुछ खोजने लगीं।

आँगन के एक कोने में तुलसी का पेड़ है। दिलीप खड़ा होकर उसके निकट जा पहुँचा। वह देखने लगा कि मिट्टी का एक दीपक रक्खा है, जिसमें अधजली बत्ती पड़ी है और थोड़ा-सा जमा हुआ घी उसे ढँके हुए है। उसे स्मरण हो आया कि अनु नित्य इसी दीपक से तुलसी की आरती करती है।

वह सोचने लगा—मनुष्य का जीवन भी एक दीपक है। बत्ती बदल जाती है, किन्तु दीपक वही बना रहता है। घी हुआ या तेल, जब कम पड़ जाता है, तभी और छोड़ दिया जाता है। यों दीपक और जीवन, दोनों के लिये स्नेह की अपेक्षा है। स्नेहाभाव यदि कभी पास न टिक सके, तो बत्ती आज है और सदा रहेगी। किन्तु जब स्नेह चुक गया हो, तब बत्ती कैसे टिक सकती है, कब तक टिक सकती है! वह जल जायगी, और दीपक में उसका शरीर भर, कुछ देर के लिए, रह जायगा। फिर तो वायु का एक झोंका ही उसे चिरशान्त कर डालेगा। जीवन के भीतर जो बत्ती पड़ी है, जिसे हम चाहे कह डालें—कल्पना की रानी या स्वप्न की प्रतिमा—तभी तक ज्योतित रहेगी जब तक स्नेह रहेगा। और जब वह स्नेह ही नहीं रह गया, तब वह प्रभा, प्रकाश कहाँ दृष्टिगत होगा!

दिलीप के मन में आया—तो क्या अनु के जीवन-रूपी दीपक में, बत्ती के रूप में, सचमुच कोई दूसरी प्रतिमा है?

चाची एक कटोरे में कुछ मिष्टान्न ले आयी, एक गिलास में गरम दूध, दूसरे में जल। फिर भीतर जाकर बोली—"कहाँ गई री! अनु!"

अनु बोली—"यहाँ बैठी हूँ अम्मा।"

चाची ने वहीं से कह दिया—"अरी, अपने दद्दा के लिए पान तो लगाकर दे जा।"

पहले ही अनु ने अपने को बहुत सँभालकर उत्तर दिया था। कहीं कंठ का आर्द्रभाव न प्रकट हो जाय। अब माँ का यह आदेश पाकर तो उसका सारा संयम ही भंग हो गया। विचार-लीन, रुद्ध, आँसू निकल ही पड़े।

मिठाई खाते हुए दिलीप बोला—"और कहो चाची, अनु को ससुराल कैसी मिली?"

"अब जैसी कुछ है, अच्छी ही है लल्ला। कहने को बत्तिस, लेकिन असल में चालिस तक की उम्र है। चँदोवा बालों से साफ़ हो गया है। यों खाने-पहनने के लिए सभी कुछ है; सोने के गहने हैं, घर में गाय-भैंस है, दूध-घी की कमी नहीं है।"

चाची ने इस तरह कहा कि बाहर के व्यावहारिक संतोष के साथ भीतर की व्यथा, दूध के साथ पानी की भाँति, किसी प्रकार मिल न सकी, वरन् गंगा-यमुना के आकस्मिक मिलन की-सी शुभ्र-श्याम रेखाएँ पृथक्-पृथक् झलक उठीं।

दिलीप ने कहना चाहा—'चलो, ब्याह हो गया, यह बहुत अच्छी बात हुई।' किन्तु फिर चाची के शुष्क, विषण्ण मुख और उनके तत्का-लीन अंतः-निःसृत निःश्वास को लक्ष करके वह कुछ कह न सका।

राधा जब से पान लगा रही है, यही सोचती है कि इन पानों के साथ उसका ज़रा भी सम्बन्ध नहीं हैं। जैसे ये निर्जीव पान है, वैसे ही उनके साथ उसकी अँगुलियों का अचेतन स्पर्श है। चाहे चूना अधिक हो जाय, चाहे कत्था; वह कुछ नहीं जानती। वह कुछ जानना नहीं चाहती। ये यहाँ आये ही क्यों? क्या ज़रूरत थी इनके यहाँ आने की? फिर पूछते हैं कि कैसी ससुराल मिली, मुझे क्या मिला है, और क्या नहीं मिला? मान लो, मुझे कुछ भी नहीं मिला, तो क्या तुम उसकी पूर्ति

कर दोगे ? या मान लो, सब कुछ मिला है, तो इन सब बातों को जान कर तुम करोगे क्या ?

दिलीप जलपान कर चुका है और अनु उसे पान देने जा रही है। नमित दृष्टि है उसकी। मोतियों से गुँथे हुए उसके कानों के रिंग डोल रहे हैं। धीरे-धीरे पग धरती हुई वह आ रही है। नेत्रों को ऐसा संयत, ऐसा अविचल, बना रखा है उसने, जैसे दिलीप की ओर देखना उसके लिए वर्जित है, पाप है। निकट आकर उसने पान अपनी माँ के हाथ में दे दिये। माँ ने चाहा कि कह दे—दद्दा को ही क्यों नहीं देती; किन्तु अनु की मुद्रा की ओर देखकर उसने उसके हाथ से पान लेकर दिलीप को दे दिये।

दिलीप अब इस घर में कभी न आयेगा। अनु तो खैर, दूसरे की हो ही चुकी, लेकिन चाची भी बदल गई हैं। न, अब उसे इस घर में कभी नहीं आना होगा; क्योंकि गोस्वामी तुलसीदासजी ने बड़े अनुभव से यह दोहा रचा था—

> आवत ही हरषै नहीं, नैनन नहीं सनेह;
> तुलसी तहाँ न जाइये, कंचन बरसे मेह।

पान लेकर दिलीप बोला—"अब चलूँगा चाची।"

चाची ने अप्रकृत विस्मय का भाव प्रदर्शित कर कहा—"जाओगे ? अच्छा।"

दिलीप चाची के पैर छूकर चल दिया।

चाची ने पुनः पूर्ववत् आशीर्वाद दिया—"सदा सुखी रहो !"

दिलीप चलता ही गया, उन्मथित-सा, विमूढ़-सा। लौटते हुए किसी की ओर देखा तक नहीं।

अनु पान देकर भीतर चली गई थी। किन्तु जब उसे प्रतीत हुआ कि दिलीप जा रहा है, तो वह तुरन्त लौटकर खंभे की ओट में खड़ी हो गई।

दिलीप चला गया, चाची रसोई बनाने में लग गईं। राधा धीरे-

धीरे बाहरी द्वार तक जा पहुँची। जिस अकंपित विवेक से उसने अपने आपको चारों ओर से खींच-खाँचकर बाँध रखा था, प्रच्छन्न प्यार के एक ही झोंके ने उसे विकल्प रूप से ऐसा झकझोर डाला कि किसी भी प्रकार वह अपने-आपको प्रकृतिस्थ न रख सकी। द्वार पर खड़ी होकर वह सामने की ओर देखने लगी।

पैरों के चप्पलों तक लटकती और दोनों ओर चक्कर दे-दे कर घूमती हुई धोती की चुन्नट, जानुपर्य्यन्त आवृत खादी की श्वेत कमीज और सिर पर छल्लेदार केश-राशि। जहाँ तक दृष्टि पथ में उत्तरोत्तर धुंधले हो रहे इस दृश्य को अनु की आँखें ग्रहण कर सकीं, अनु खड़ी रही। अन्त में जब दिलीप का वह पृष्ठ भाग उसकी दृष्टि से सर्वथा लुप्त ही हो गया, तो वह फिर भीतर लौट आयी। उसके मन में आया कि दिलीप अगर उसका कोई नहीं है, तो यह संसार मिथ्या है, जीवन मिथ्या है कहीं कुछ भी सत्य नहीं है। सभी व्यर्थ है।

दिलीप की माँ कह रही थी—"अब मुझसे और न सहा जायगा मुन्नू। वह जब अच्छी तरह थे, तब तू पढ़ रहा था। मेरी बड़ी इच्छा थी कि उसी समय बहू आ जाती और वे इस आँगन में उसके पायल की झनकार सुनकर अपनी साध पूरी करते। मैं उनसे कहती-कहती हार गई, पर उस समय तुम पिता-पुत्र किसी तरह न माने। मैं समझती थी, ऐसी जल्दी क्या पड़ी है! एक-दो वर्ष और सही। पर मेरा वह धीरज ही मेरे लिये अभाग्य बन गया और वे चलते-फिरते एक दिन चलते बने।....अब हँसते-खेलते पड़ोस के बहू-बेटों को देखती हूँ, तो ऐसा जान पड़ता है कि यह सब धन-दौलत कुछ नहीं है। जब कोई इसका भोग करने वाला न होगा, तो यह सब बेकार है।...मैं तेरे लिए कोई चीज नहीं हूँ मेरी इच्छाओं का कोई मूल्य नहीं। जान पड़ता है और तो सब चला ही गया है, तू भी अब अपना नहीं रहा है।"

उनकी आँखों में आँसू भर आये।

दिलीप बड़ा ज़िद्दी है। उसने तय कर लिया है कि वह अविवाहित रहेगा। अनु ने उसे भुला दिया है। वह उसे भुला सकती है। वह नारी है, हिन्दू-नारी। बचपन में उसका ब्याह हुआ था। तब वह जानती भी न थी कि दिलीप उसका कौन है। वह अपने माता-पिता से मुँह खोल कर क्या कहती, कैसे कहती? उसके बाद—उसके बाद—वह कर ही क्या सकती थी?

किन्तु दिलीप ने पुरुष का हृदय पाया है। अनु उसकी होकर भी दूसरे की हो कर रह सकती है, तो क्या दिलीप उसी का होकर, फिर किसी का न होकर, नहीं रह सकता? प्रेम कोई विनिमय नहीं है। वह तो उत्सर्ग का प्रतीक है। अनु ने उसे भुला दिया है, तो क्या इसीलिए दिलीप के लिए उचित है कि वह भी उसे भूल जाय? न, दिलीप से ऐसा हो नहीं सकता। वह जीवन को क्षण-भंगुर मानता आया है। प्रेम के आगे वह ऐसे तुच्छ जीवन को कुछ भी महत्व न देगा। जिस प्रकार अब तक चल रहा है, उसी प्रकार चलेगा।

दिन चल रहे हैं। दिलीप डाक्टरी पढ़ रहा था। वह अब एम० बी० बी०, एस्० होकर आ गया है। देहात छोड़कर अब वह कानपुर नगर में रहता है। उसके साथ सिर्फ उसकी माँ है और कोई नहीं। उसकी माँ नित्य सबेरे ताँगे पर बैठकर गंगा नहाने जाती है। दोपहर को जब लौटती है, तो दिलीप भोजन करने आ जाता है। महराजिन उस समय तक भोजन की सारी सामग्रियाँ तैयार कर रखती है। माँ उसे पास बिठालकर खिलाती है। दिलीप माँ से इधर-उधर की बातें करता है। वह कभी मुस्कुरा उठता है, कभी कोई ऐसी बात भी कर देता है कि माँ या तो उलझन में पड़ जाती है, या दिलीप को भला बुरा कहने लगती है। दिलीप चुपचाप उन बातों को सुन लेता है।

एक दिन की बात है। जान पड़ता है, नवम्बर मास का वह दिन जीवन के सभी साधारण दिनों की अपेक्षा कुछ नवीन था, उसकी कोई

विशेषता थी। तभी तो दिलीप माँ की उस बात को सुन कर कहने लगा—"अच्छा तो अम्मा, मैं अब व्याह करना चाहता हूँ। पूछो, किसके साथ तो बताऊँ।"

'दिलीप अब भी नटखट बालक बना हुआ है। वह अपनी माँ तक से ठठोली करता है। देखो तो, वह कैसी बात कर बैठा! जिसने अपने जीवन के अट्ठाइस वर्ष यों ही हँसते-खेलते बिता दिये, माँ कहते-कहते हार गई, अन्य आत्मीय-जन समझा-समझा कर थक गये, किन्तु दिलीप ने किसी की बात न मानी। और आज वही दिलीप चला है माँ से ठठोली करने! दुष्ट कहीं का—शैतान!'

माँ के मन में आया और गया। वह दिलीप की ओर ताकती रही। उसके चिर विषण्ण, चिर-पीड़ित मन-प्राण में दिलीप का यह कथन विषाक्त तीर की तरह जा लगा। दिलीप के लिए यह नयी बात नहीं है। इसी तरह मालूम नहीं कितनी बार वह सारी बातें तय कर चुका है, किन्तु दो दिन में ही फिर पलट गया है। क्या उसकी माँ इतनी नादान है कि वह दिलीप की इस बात को सत्यमान कर तरंगित आशा से लहरा उठेगी? न, दिलीप ठिठोली ही कर रहा है।

"किन्तु यह बात, सच पूछो तो, सर्व-साधारण के लिए ठीक हो सकती है। ठठोली वह समझे, जो उसका अभ्यासी हो। दिलीप की माँ उसकी बात को ठठोली क्यों समझे? वह तो माँ का हृदय है। कोई और होता, तो वह एक बार समझ लेती कि यह सब शाब्दिक मृग-तृष्णा है, एक प्रकार का वाक्छल! किन्तु वह तो माँ है। किसी भी प्रकार अपने दिलीप की किसी बात को वह अपरूप नहीं देखना चाहती। उसका दिलीप अभी अबोध बालक ही बना हुआ है। अभी उसकी अवस्था ही क्या है! अभी तो वह बच्चा है। कौन जाने निश्चित मन से ही वह इस प्रकार की बात उठा रहा हो!"

माँ ने इधर-उधर भूल-भटक कर सोचा, स्थिर किया। उसकी

अम्लान मुद्रा बात-की-बात में आशा के उज्ज्वल आलोक से उद्दीप्त हो उठी।

दिलीप इसी समय पूछ बैठा—"तुम कुछ बोलीं नहीं। अम्मा!"

माँ ने कहा—"मालूम नहीं, कितनी बार तू इसी तरह की बातें कर-करके मुझे परेशान कर चुका है। इसीलिए तेरी इस बात का विश्वास जाता रहा। तू चाहे सच भी कहे, तो भी मुझे शंका बनी ही रहती है। मैं अभी तक यही सोच रही थी कि क्या यह सम्भव नहीं हो सकता कि तेरी इस बार की बात सच निकल आये?"

"सचमुच अम्मा, अब मैं विवाह कर लेना चाहता हूँ।" दिलीप उसकी ओर स्थिर दृष्टि से देखकर बोला—"किन्तु जब तुम उसे स्वीकार कर लो, तब।"

अब माँ को बोध हुआ कि जो बात उठाई जा रही है, वह निराधार नहीं है। तब वह बोली—"मुझे स्वीकार क्यों न होगा? यह कैसी बात आज तूने कही?"

बात के प्रकार में कुछ विस्मय भी झलक उठा।

दिलीप बोला—"जिसके साथ मैं विवाह करना चाहता हूँ अम्मा, वह विधवा है। उसके जीवन को अभी तक किसी ने छू नहीं पाया है। कभी वह बड़ी भाग्यशीला थी; किन्तु विवाह होने के साथ ही, जब संसार की दृष्टि में वह सौभाग्यवती हुई, मालूम नहीं, कहाँ से उसके सिर पर रक्खा हुआ अमृत विष-घट बन गया। वह प्रकट सौभाग्य उसके लिए सर्वथा अभाग्य सिद्ध हुआ। ज़िन्दगी के साथ मौत का मेल कहीं सम्भव होता है! सुना है, अब वह विधवा हो गई है। वह एक दुखिया नारी है अम्मा। संसार उसे अभागिनी कहता है। मैं उसके साथ विवाह करके एक बार उसे सौभाग्यवती-रूप में देखना चाहता हूँ।"

माँ बोली—"यह मैं कुछ नहीं जानती। मैं तो बहू चाहती हूँ; ऐसी बहू, जिसे पाकर मैं तुझे सुखी देखूँ, तेरे उजले भविष्य को देखूँ। अब मुझे यह नहीं देखना है कि वह बहू तू कहाँ से, किस तरह, क्या सोचकर

उठा लाया है !"

—यह माँ है दिलीप ! इसे माँ कहते हैं। तू समझता है कि माँ के लिए संस्कृति प्यारी है, समाज प्यारा है ! लेकिन तूने यह क्यों नहीं सोचा कि माँ के लिए पुत्र-पुत्र है। उसके आगे संस्कृति और समाज कोई चीज़ नहीं है। वह तो अपने भविष्य की ओर देखती—अपनी एकमात्र आशा की ओर टकटकी लगाकर निहारती रहती है।

दिलीप माँ के उत्तर से चरम आह्लादित हो उठा।

दिलीप फफूंद-स्टेशन से औरैया (इटावा) एक तांगे पर सवार होकर आया था। उसने कभी औरैया देखा न था। वह समझता था, एक साधारण क़स्बा होगा। किन्तु नहर पार करने के बाद जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता गया, वैसे-ही-वैसे उसे प्रतीत हुआ, यह तो एक सुशोभित क़स्बा है। सड़क के दोनों ओर पक्के, खुशनुमाँ मकान और बँगले हैं। पुष्प-बाटिकाएँ और लताएँ उनकी शोभा अपने-आप बतला रही हैं। तहसील के निकट से बाजार की ओर मुड़कर उसने एक अढ़तिये के यहाँ पूछा—"यहाँ कोई आनन्दीप्रसाद अवस्थी रहते थे ? घर के ज़मींदार और सम्पन्न व्यक्ति थे।"

उत्तर मिला—"हाँ ! अब वह तो नहीं रहे, उनकी मुसम्मात है। उधर आगे चलकर, इसी सड़क पर वह जो पीपल का पेड़ दिखाई पड़ता है, उसी से लगी हुई दक्षिण की ओर जो गली गई है, वहीं उनका मकान है।"

दिलीप ताँगे पर बैठ गया। ताँगा उसी ओर चल दिया।

थोड़ी देर में दिलीप एक फाटक के अन्दर था। नौकर ने दिलीप का सन्देश भीतर जाकर कहा। फिर तुरन्त लौट आया और बोला—"बहूजी ने आपको वहीं बुलाया है।"

दुमंजिला पक्का मकान है। साफ़-सुथरे कमरे। दिलीप ज़ीने की

सीढ़ियों से चढ़ता चला गया। आगे उसे एक कमरा मिला। उसमें एक पलँग बिछा हुआ था। खादी की श्वेत चादर अपनी उज्ज्वलता से यह प्रमाणित करती थी कि वह अभी ताजी निकाली गई है।

दो बजने का समय था। दिलीप ने देखा, अनु जमीन में शीतल-पाटी पर बैठी हुई है। ओह, कितनी कृश हो गई है! न वह मांसल देह-यष्टि है, न वह मदिर लावण्य। जैसे सब कुछ खो गया है। जिस अनु को वह देखने आया था, मानो वह और थी। न, यह अनु नहीं हो सकती—कदापि नहीं।

दिलीप अपने-आपको स्थिर न रख सका, उसकी आँखें भर आयीं। कमरे के द्वार पर वह खड़ा-का-खड़ा रह गया।

अनु बोली—"खड़े क्यों हो? आओ, इधर निकल आओ।"

दिलीप अनु के पास जिन संकल्प को लेकर आया है, उसकी गति कहाँ है? कहाँ गया उसका वह अविचल उत्साह? कहाँ गये उसके वे उत्फुल्ल लोचन, जो अनु के अंतस्तल को भेदकर उसे चरम बिलोड़ित कर डालेंगे? मनुष्य कितना अभिमान करता है अपनी संलग्नता का! सोचता है, वह असम्भव का अस्तित्व ही न रक्खेगा; इस शब्द को चूर-चूर करके वह सदा के लिए नष्ट कर डालेगा। किन्तु यह नहीं सोचता कि अदृष्ट के एक ही कशाघात से मनुष्य का सारा दर्प, सारा अहंकार, धूल में मिल जाता है!

मनुष्य के समस्त अनुष्ठान और संकल्प उसके एक संकेत मात्र से तुच्छ बन जाते हैं!

दिलीप पलँग पर बैठ गया। कुछ पूछ भी नहीं सका। पूछने या बोलने को इस दिलीप के पास क्या कुछ था नहीं? उसके मन में आया कि वह कहे, तुम्हीं को देखने-सुनने चला आया हूँ अनु। किन्तु अटूट विश्वास-गर्भित वाणी का यह कथन किसी प्रकार उसके ध्वस्त कंठ से फूट न सका। फिर उसने स्थिर किया कि वह पूछे—क्या हाल-चाल है अनु?

किन्तु यह तो एक प्रकार का व्यंग्य हुआ, हाल-चाल क्या उससे अब तक छिपा रह सका है, जो वह ऐसा प्रश्न कर रहा है ? छिः ! अपनी अनु से वह इस प्रकार का प्रश्न करे ! यह तो एक प्रकार की अवहेलना होगी उसकी, एक प्रकार की प्रवंचना। न, वह इस तरह का प्रश्न नहीं कर सकता।

अनु सिसक-सिसककर रो उठी। तब स्थिर होकर, संभलकर, दिलीप ने कहा—"रोओ मत अनु। आज इतने दिनों बाद भी मैं यही मानता हूँ कि मैं होऊँ या तुम, कोई भी हो, सभी अपने कर्म-फल के ही अधीन है। कोई कुछ नहीं करता। जो कुछ भी होता है, हमीं अपने आप करते हैं, या किये हुए का पाते हैं। तब हम रोयें क्यों ?"

पूर्व-पत्नी से उत्पन्न दो छोटे बच्चे कहीं खेल रहे थे। वे इसी समय आ पहुँचे और अनु की गोद में आकर बैठ गये। दोनों लड़कियाँ थीं। बड़ी बोली—"काए कों लोती हो अम्मी ? ना लोओ, ना लोओ।"

वह धोती के छोर से विमाता के आंसू पोंछने लगी।

छोटी बोली—"अम्मी, जे कोन हें ?"

नन्हीं-सी तर्जनी दिलीप की ओर उठाकर, भोली जिज्ञासा से, कौतुक-भरी चितवन से।

अनु बोली—"यह तेरे मम्मा है लल्ली। देख, ये फल ये मेवे लाये हैं। जा-जा उनकी गोद में जाकर बैठ।"

दोनों खिलौने पहले दिलीप की ओर देखकर रह गये, फिर मुस्कराये। उछलकर एक दिलीप की गोद में बैठ गया, दूसरा उसके कंधे पर।

जीवन में पहली बार दिलीप ने अनुभव किया—यही संसार का स्वर्ग है, आनन्द-कादंबिनी यहीं बहती है। मानवात्मा का चरम उत्थान यहीं होता है। यही वह स्थल है, जहाँ मनुष्य अपने आशा-स्वप्नों को चरितार्थ होते देखकर अनुभव करता है कि देवराज इन्द्र का सुखोपभोग भी मेरे इस सुख के आगे तुच्छ है।

बच्चों के साथ देर तक दिलीप खेलता रहा।

×

रात आयी। साथ बैठकर अनु ने दिलीप को भोजन कराया। बच्चे सो गये। वार्तालाप का प्रवाह फिर फूट निकला।

"तो तुम कल ही चले जाओगे? और भी दो-एक दिन रह नहीं सकते?" अपलक दृष्टि से दिलीप की ओर देखती हुई अनु बोली।

"हाँ अनु," दिलीप टहलता और फ़र्श की ओर देखता हुआ, आर्द्र कंठ से कहने लगा—"मैं नहीं जानता था कि मैं खुद इतने दिनों तक स्थिर रह सकूँगा।"

फिर थोड़ा रुककर उसने कहा—"मैंने यह भी नहीं सोचा था कि कभी ऐसा भी समय आ सकता है, जब मैं तुमसे मिलकर तुम्हारा इस तरह समाचार लेने आऊँगा।"

फिर कुछ गम्भीर होकर बोला—"यह ठीक है कि एक जीवन की आहुति देकर प्राप्त की गई साधना के महत्व को इस प्रकार व्यर्थ कर डालना कोई उत्कर्ष नहीं है। इसके सिवा मैं यह भी मानता आया हूँ कि आदर्श जीवन तो त्याग और तपस्या का ही प्रतीक होता है। तो भी मैं इतना जानता हूँ अनु कि यह उत्सर्ग, यह समर्पण, हृदय से ही फूटकर सदा नहीं निकला करता। इस चाह के भीतर संस्कृति की एक गहरी आह भी छिपी रहती है। मनुष्य अपने को चाहे तो भूल सकता है। किन्तु उसकी अपने को भुला देने की यह कामना, अपने हृदय का यथार्थ चित्र अंकित करते समय, यह कभी नहीं देखती कि उसकी अमुक रेखा संस्कृति और समाज के लिए सर्वथा अप्रीतिकर, अवांछनीय और अशोभन है, इसी कारण मंद है, धुंधली; और अमुक नितांत स्वाभाविक, सब प्रकार से अनिवार्य होने के कारण चरम अपेक्षित है, इसलिये उद्दीप्त। क्या पुलकित रोम-रोम का अकल्पित उल्लास, क्या चिर-शांत समाहित आशा-लता और क्या अश्रुविगलित विवर्ण चेष्टा, उसके लिए सदा समकक्ष ही रहती है।"

कुछ आवेश में आकर, कुछ उत्तेजित होकर अनु बोली—"तो इसका तो सीधा-सादा अर्थ यह है कि तुम मुझसे नहीं, मेरे शरीर से अपना नाता रखते आये हो। जान पड़ता है, मेरे प्रेम को तुमने इतना स्थूल-काय समझ रक्खा है कि तुम इस शरीर को छोड़कर अलग से उसे देख ही नहीं पाते! मैं समझ नहीं पाती दिलीप, आखिर तुम चाहते क्या हो?"

"मैं एक बार यही जान लेना चाहता हूँ अनु कि हमारे बीच में यह जो संस्कृति और समाज के आतंक की दीवार खड़ी है, उसे हमारा यह प्रेम उल्लंघन करने में जो समर्थ नहीं हो रहा है उसका कारण क्या है?—उसके आधार में क्या है? मैं यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहता हूँ कि हम लोगों में से किसने अपने आपको धोखा दे रक्खा है? मैं नहीं मानता कि हमारा शरीर और आत्मगत धर्म आज कुछ और है और कल कुछ और। मैं आज और कल के अन्तर से परे पहुँच गया हूँ। जो चीज़ जिसकी है, मैं तो उसे उसी के पास देखने पर विश्वास रखता हूँ। क्यों नहीं हो पाती, खोजते-खोजते, उसका पता लेने पर, मैं उसे छोड़ना नहीं जानता। अपने और जगत् के कल्याण के लिये, दो तड़पती हुई आत्माओं के विच्छेद, विभ्रम और विरोध को ध्वंस करते रहने में ही मैंने अपनी सार्थकता मानी है। मैं बुद्धिवादी हूँ अनु। विश्ववंद्य हिन्दू-संस्कृति की दुर्बल वृत्तियों के विध्वंस का स्वप्न देखते-देखते आज मैं केवल अपने विवेक को मानता हूँ और किसी को नहीं।"

इस कथन के प्रारम्भ में दिलीप नतमुख था, मध्य में उसका मस्तक उन्नत हो गया और अंत तक पहुँचते-पहुँचते एक अदमनीय आलोक उसके आनन पर ज्योतित हो उठा।

अनु अब अवाक् हो उठी। उसके नेत्र भर आये। एक-एक कर अनेक मोती उसकी खादी की श्वेत साड़ी को भिगोने लगे। दिलीप उसके निकट आकर बैठ गया। अनु उसकी गोद में गिरकर सिसकने लगी। दिलीप अपने रूमाल से उसके आँसू पोंछता हुआ कहने लगा—"रोओ मत अनु,

जीवन इस तरह खोने की चीज़ नहीं है।"

अंत में कुछ संभलकर अनु बोली—"मैं अब तक तुम्हारी ही रही हूँ। मैंने उसके साथ छल किया था; उन्हें सदा धोखे में रक्खा था। मैं अभागिनी हूँ कि अब तक किसी की न बन सकी। पर अब मैं तुम्हारी बनूँगी; किन्तु···" और उस 'किन्तु' को लेकर अनु फिर सजलनयन हो उठी। किसी प्रकार यह प्रकट न कर सकी कि अब एकमात्र निर्वाण की ओर वह देखना चाहती है और दूसरी ओर नहीं।

उस रात को अनु के मन-प्राण तक में प्रविष्ट होकर दिलीप ने नये जीवन का अनुभव किया। उसके प्राणों को प्राण मिले, जीवन को जीवन। वह अपने संसार के निर्माण में लीन चिर-लीन हो गया। बड़े उल्लास के साथ वह घर लौटा।

किन्तु—फिर उसी दिन सायंकाल अनु का स्वर्गवास हो गया। सूचना मिलने के बाद दिलीप एक दिन अनन्त आकाश की ओर देखते-देखते विमूढ़ हो उठा। उसके मानस-पट पर एक ओर इस संसार के प्रति चरम उपेक्षा चारों ओर से आकर एकत्र हो उठी, दूसरी ओर कभी-कभी उसके मुख पर, नाना प्रकार के, अप्रकृत हास की अपरूप भंगिमाएँ झलकने लगीं। विविध प्रकार की मुद्राओं में वह सोचने लगा—

"तो क्या अनु सचमुच कल्पना थी, एक स्वप्नमाला? क्या स्वतः उसे भी यह ज्ञात नहीं था कि वह कहाँ जा रही है? क्या उस दिन का वह समर्पण भी एक वाक्छल था? पति के साथ छल करके जब उसकी संतुष्टि नहीं हुई, तब क्या मेरे साथ भी उसने उसी प्रकार का प्रयोग किया? तो क्या स्वामी को एक बार खोकर फिर उसने उसे पा लिया था? और फिर, क्या इसीलिए वह अन्तर्धान हो गयी?"

सोचते-सोचते वह थक गया। दिन-भर के उपवास और असीम मनोमंथन से जब वह अत्यन्त श्रांत-ध्वस्त हो गया, तो एक बार उसके

मन में आया—कहीं कुछ नहीं है, मैं स्वतः भी कुछ नहीं हूँ। सब धोखा है—इन्द्रजाल।

वर्ष-के-वर्ष बीत गये हैं; किन्तु आजतक दिलीप के लिये अनु एक इन्द्रजाल ही बनी है। विस्मयाकुल हो-होकर सदा वह यही सोचता है—तो एक-बार खोकर भी क्या फिर उसने स्वामी को प्राप्त कर लिया था ?

उर्वशी

आज जब जीवन-विपंची की मृदुल तरङ्ग-ताल क्रमशः मन्द पड़ने लगी, तो मैंने अपने सुहृद गोपालदादा से कहा—"आओ चलें, कहीं घूम आयें।"

सावन के दिन हैं। नित्य ही श्यामघन इठलाते बलखाते हुए आते-आते बरस पड़ते हैं। मयूर बोलने लगते हैं और मेरा छोटा-सा छौना नारायण चकित-विस्मित मनसा-लहरी हिलोरता हुआ, वातायन से झाँकने को दौड़ा आकर, मेरे पैरों की धोती में लिपट जाता है। झमा-झम पावस के इन मन्दालोक-पूर्ण दिनों में इधर-उधर घूमना मुझे सदा से बहुत अच्छा लगता आया है।

गोपाल दादा ने ज़रा-सा मुसकराकर अन्तर का अनन्त उल्लास झुलकाते हुए कहा—"अच्छा तो है। चलो, वृन्दावन चलें।"

"तो फिर कल सबेरे की गाड़ी से चलना तय रहा।" कहकर मैं अपना पनडब्बा खोलने लगा।

जीवन भर चेष्टा कर-करके थक गया कि बाहर चलते वक्त साथ रहनेवाली चीज़ों को पहले से, इतमीनान के साथ, ठीक तरह से एकत्र करके, ट्रङ्कों के भीतर सुरक्षित रूप से रख लूं। पर मैं इस बात में कभी सफल नहीं हुआ; सदा मुझसे कुछ-न-कुछ छूटता ही आया है। गोपाल-दादा मेरी इस प्रकृति से अपरिचित नहीं हैं। फिर भी उनसे रहा नहीं गया। बोले—"अभी काफ़ी समय है। साथ रखने की सभी आवश्यक चीज़ें पहले से ठीक करके रख लो। फिर वहाँ आवश्यकता पड़ने पर 'अरे'

शब्द से कोई तीर न मार देना !"

मेरे ये गोपालदादा बड़ी हँसोड़ तबीयत के हैं। अपने प्रेमी जनों की बहुत याद रखते हैं। उनका प्रेमी संसार है भी बड़ा विस्तृत। उनके गाँव में एक 'सलकू' पंडित रहते हैं, जिनको नाक से सुँघनी सुड़कते रहने का मर्ज़ है। बात-बात में 'तौन समझलेव' कहते रहने की उन्हें आदत है। 'समझ' शब्द का 'झ' अक्षर जल्दी बोलने में कभी-कभी 'न' भी उच्चारित होने लगता है। सुँघनी सूंघते हुए जब वे 'तौन समन्लेव' कहने लगते हैं, तो उनकी रूप-रेखा ऐसी मनोमोहक हो जाती है कि गोपालदादा उन्हें अपलक देखते हुए मूर्तिवत स्थिर रह जाते हैं !

ऐसे ही एक लाला किशोरीलाल नाम के वैद्य भी मेरे गाँव में रहते हैं। उनकी अवस्था अब सत्तावन-अट्ठावन की हो चुकी है। दाँत टूट गये हैं तो क्या हुआ; कृत्रिम दाँतों से उनकी मुख-छवि में कोई अंतर नहीं आने पाया है। केश-काकुल श्वेत हो गया है तो क्या हुआ; सप्ताह में दो बार खिजाब जो लगा लेते हैं ! कृष्णवर्ण में यदि कहीं स्वर्णिम लालिमा भी झलक जाती है, तो उन्हें असह्य व्यथा होने लगती है।

आपकी जीवन-संगिनी की मृत्यु हुए अभी केवल दस वर्ष हुए हैं, ईश्वर की दया से आपके नाती-नातिनी भी हँसती-खेलती हैं। आपकी देवीजीकी अवस्था भी अधिक नहीं, केवल ५-७ वर्ष आपसे अधिक थी, फिर भी उनके निधन हो जाने का आपको अत्यधिक दुःख है। अकसर प्रेमी लोग आपके पास आकर, मुँह लटकाकर, जब कहने लगते हैं—"चाची के न रहने से तो आपका घर ही बिगड़ गया ! उनकी मृत्यु से सचमुच आपको बड़ा सदमा पहुँचा। देखो तो, आधी देह बिला गई !" तब आप झट से रोने लगते हैं ! रोते-रोते आप हिचकियाँ भरने लगते हैं ! इन लालाजी को रुला-रुलाकर आनन्द उपलब्ध करने का श्रेय गोपालदादा को प्राप्त है। तो इसी प्रकार के व्यक्ति इन गोपालदादा के प्रेमी जन हैं।

हाँ, तो मैंने गोपालदादा से कह दिया—"मैं चेष्टा तो ऐसी ही करूँगा कि आवश्यक वस्तुओं में से कोई वस्तु छूटने न पाये; पर यदि

कोई ऐसी वस्तु छूट जाय, जो यहाँ बैठकर सोचने की दृष्टि से तो अनावश्यक है, पर वहाँ परदेश में आवश्यकता पड़ते समय सम्भव है, आवश्यक हो जाय, तब तो लाचारी होगी बन्धु।"

दादा हँसते हुए बोल उठे—"यह तुमने अच्छा बहाना ढूँढ़ा!"

मैंने उत्तर दिया—"बहाना नहीं दादा, सचमुच, यह बात मैं अपने अनुभव से कह रहा हूँ।"

वे बोले—"अच्छा-अच्छा। तुम चलो तो सही; तुम्हारा बाहर निकलना तो हो।"

वृन्दावन में, सड़क के किनारे के एक तिमंजिले मकान में, हम लोग ठहरे हुए हैं। तीन दिन से बराबर पानी बरस रहा है। कभी-कभी बीच-बीच में, घंटे-आध-घंटे को पानी रुक भी जाता है; परन्तु फिर भूरी-भूरी काली-काली जलद-बालाएँ, झीनी-झीनी पारदर्शिका साड़ियाँ पहने, हँसती-इठलाती, इकट्ठी हो-होकर नर्तन-गति के ताल-ताल पर सहसा बरसने लगती हैं। मेरे कमरे के दरवाज़ों पर एक ख़ूब घनी लता, खंभों पर फैलती और दूसरी मंज़िल के छज्जे को आच्छादित करती हुई, उसकी छत तक जा पहुँची है। उसकी हरी-हरी पत्तियों के बीच-बीच दुग्ध-फेन-से खिले हुए पुष्प मंद-मंद मुसकरा रहे हैं। नन्हें-नन्हें बूँद उन पर कुछ क्षणों तक तो स्थिर रहते हैं, पर जब सनसनाती हुई पुरवैया झोंके देती हुई आ पहुँचती है, तो पुष्पों और पत्तियों पर छाये हुए वे मोती एकदम से झड़ पड़ते हैं।

बड़ी देर से मैं मोतियों के इस क्षण-भंगुर जीवन का अध्ययन कर रहा हूँ।

प्रातःकाल अभी-अभी हुआ है; आठ नहीं बजे हैं। गोपालदादा कल मथुरा चले गये हैं। इस समय मैं यहाँ अकेला हूँ। जिस मकान में मैं ठहरा हुआ हूँ, उसमें सब मिलाकर दस-पंद्रह व्यक्ति ठहरे हुए हैं। मेरे

कमरे के बराबर ही एक जौहरीजी, अभी परसों से ही, सपत्नीक आ टिके हैं। इन जौहरीजी की पत्नी, जान पड़ता है, द्वितीय विवाह की हैं। उनका वय अभी बीस-बाइस वर्ष का होगा। परन्तु जौहरीजी की अवस्था चालीस के लगभग है। जौहरीजी की इस नवपत्नी का नाम वैसे तो मैं भला क्या जान सकता, पर जौहरीजी ठहरे आज़ाद तबीयत के पुरुष, 'चन्दा' नाम लेकर पुकारते हुए मैंने कभी-कभी उनका बोल सुन लिया है।

चन्दा भीतर से चाहे जैसी हो, पर उसका कंठ-स्वर मुझे बहुत प्रिय लगा। वह कुछ ऐसा मृदुल, प्राण-प्रद, और सुधा-सिक्त-सा जान पड़ा कि जब से वह इधर आकर ठहरी है, तब से मेरे कान उधर ही रहने लगे हैं। और बस यही—भला समझो या बुरा—मेरे इस जीवन का असयंम है। जो चीज़ मधुर है—सुन्दर है, कोमल है, प्रिय किंवा प्राणोन्मादिनी है, उसकी ओर से तटस्थ या अन्यमनस्क होकर मुझसे रहा नहीं जाता। मैं करूँ तो क्या करूँ!

मुझे वंशी बजाने का शौक़ है। और वंशीवाले की लीलाभूमि में आकर उसकी वन्दना में वंशी न बजाऊँ, यह कैसे हो सकता है! नित्य ही प्रायः रात को ग्यारह बजे जब सांसारिक पुरुष अगाध निद्रा में लीन हो जाते हैं, मैं अपनी वंशी की तान छेड़ने बैठ जाता हूँ। जब से आया हूँ, यह वंशी इस वृन्दावन में अनेक स्थलों पर बजा-बजाकर मैं अपने इष्टदेव को रिझा चुका हूँ। कल जैसे ही मैं वंशी बजाकर पलँग पर जाने को आगे बढ़ा कि जौहरी जी का नौकर, एक छोकरा, मेरी ही ओर आता हुआ दिखाई पड़ा। तुरन्त टार्च उठाकर मैंने उसका ज्वलन्त प्रकाश जो उसके मुख पर छोड़ दिया, तो वह एकदम से चौंधिया गया। निकट आने पर मैंने उससे पूछा—"क्या है रे? कैसे इधर···?"

वह मेरे और भी निकट आकर धीरे से कहने लगा—"मालकिन कहती हैं, आज बड़ी जल्दी वंशी बजाना बन्द कर दिया!"

मैंने पूछा—"जौहरीजी क्या कर रहे हैं?"

वह बोला—"वे तो नींद के ख़र्राटे ले रहे हैं। इतनी रात तक

कभी जगते हैं कि आज ही जगेंगे !"

मैंने कहा—"अच्छा मालकिनजी से कहना, इतनी जल्दी तो नहीं बंद की; लेकिन यदि उनकी इच्छा और सुनने की है, तो फिर भी मैं सेवा के लिए तैयार हूँ।"

छोकरा चला गया और मैं फिर वंशी बजाने बैठ गया।

बड़ी देर तक मैं वंशी बजाता रहा। ऐसा जान पड़ता था, मैं नहीं बजा रहा हूँ, कोई और ही मेरी वंशी में बैठकर उसे इच्छानुसार बजा रहा है।

फिर तो मुझे इतना भी बोध नहीं रहा कि मैं कहाँ हूँ, क्या हूँ, और क्या कर रहा हूँ! कितना समय हो गया, कुछ पता नहीं। अकस्मात् सुनाई पड़ा—"अरे उठ, अरे ओ कदुआ, जरा-सा उठ तो सही।"

जान पड़ता है कदुआ नाम का वह छोकरा उठ बैठा। स्पष्ट सुनाई पड़ा, चन्दा कह रही है—"जा, उन बाबूजी से कह दे—क्या भोर ही कर देंगे ? तीन तो बजा दिये !"

कदुआ आँखें मलता हुआ मेरे निकट आकर यही कहने लगा।

उत्तर में मैंने कह दिया—"हर्ज ही क्या है ! भोर भी हो जाता, तो क्या होता !"

मन एक मिठास से भर गया है। नाना प्रकार की मधुर कल्पनाएँ मन में आ रही हैं। ऐसा जान पड़ता है, यह चन्दा मुझसे जरा भी दूर नहीं है। मेरे जीवन में जो कुछ भी प्यास है, सरसता की समस्त निधियों, आकर्षण के समस्त उपकरणों और आत्मदान के निखिल साधनों से यह नारी उसकी पूर्ति में तत्पर है। चाहूँ तो अभी स्वयं प्रभात हो जाऊँ, अथवा इस रात को ही कभी न समाप्त होने दूँ! जानता हूँ, मैं यह सब क्या सोच रहा हूँ! यह भी सोच रहा हूँ कि यह मिठास तभी तक है, जब तक मन की इस तैयारी के साथ गीली-गीली कल्पना का मधुर सम्बन्ध है। जीवन की वास्तविकता के साथ जब इसका सम्बन्ध होगा, तब स्थिति दूसरी होगी।

पर चिन्ता की कोई बात नहीं है। उस स्थिति के लिए मुझमें किसी प्रकार का भय नहीं है। चन्दा यदि मुझसे कोई आशा रखती है, तो मैं उसकी पूर्ति करने में चूकूँगा नहीं। भविष्य मुझे कहाँ ले जायगा और समाज की दृष्टि में मैं क्या बनूँगा, इसको तै करने की जिम्मेदारी मेरे ऊपर नहीं है। मुझमें कहीं कोई अभाव है, तो मैं उसे अवश्य पूरा करूँगा; मेरे द्वारा यदि किसी प्राणी के जीवन में तृप्ति का संचार होता है, तो मैं उसको किसी प्रकार विमुख नहीं करूँगा।

पलँग पर लेटा हुआ करवट बदल रहा हूँ। धप निकल आयी है। वातायन से शीतल समीर के झोंके हहर-हहर करते हुए आ-आकर उन्मद आनन्द बिखेर रहे हैं। सिरहाने ताक़ में रखा हुआ हरिण-खिलौना अपना मुख नीचे की ओर किये, हिलता-हिलता बिलकुल सजीव-सा प्रतीत होता बड़ा प्यारा लग रहा है। एकाएक मेरी दृष्टि उस ताक़ में रखी वंशी पर अटक गयी। काष्ठ-निर्मित एक निर्जीव पदार्थ का भी, अवसर पर, कितना महत्व है! यही सोचता हुआ झट से मैंने उसे चूम लिया और होठों से लगाकर भैरवी छेड़ने लगा।

अभी दस ही मिनट हुए होंगे कि कदुआ मेरे निकट आकर कहने लगा—"मालकिन पूछती हैं, आपको मेरे हाथ का बना हुआ भोजन पाने में कोई आपत्ति तो न होगी?"

वंशी उठाकर मैंने जहाँ-की-तहाँ रख दी। मैं अब सोचने लगा—"अरे! मेरे इस शुष्क जीवन में एकाएक यह अभिनव तरल मृदुल प्राणतत्व-सा घोलनेवाली चन्दा तुम मेरी कौन हो? कहाँ से आ गयीं तुम? और कितने दिनों के लिए?"

कदुआ बोला—"क्या कहते हैं बाबूजी?"

मैं फिर अधीर हो उठा हूँ। जीवन-भर मैं प्रयत्न कर-करके हार गया कि मेरी प्रियतमा नँदरानी मुझसे सदा हँसकर बातें करे, कभी मैं

उसकी अप्रसन्नता का कारण न बनूँ, कभी मैं इस योग्य बन जाऊँ कि वह मुझसे किसी विशेष वस्तु की याचना करे और मैं उसे तुरन्त पूर्ति का रूप देकर उसके आगे एक सफल पति का गौरव प्राप्त करने का सौभाग्य लाभ करूँ ! ···किन्तु कभी ऐसा हो नहीं सका। तो क्या यह चन्दा मेरे लिए नँदरानी से भी अधिक प्रिय होना चाहती है ? आखिर इसके इस प्रस्ताव का अर्थ क्या है ? क्यों वह मुझको भोजन कराना चाहती है ? मैं उसके लिए क्यों इतने आकर्षण की वस्तु हूँ ? उसके सीमित जीवन के लिए मैं क्या कोई असीम रेखा हूँ ? उसके जीवन-वृत्त के लिए मैं क्या कोई केन्द्र-विन्दु हूँ ? और फिर, क्या उसको इतनी स्वतन्त्रता है कि वह पर-पुरुष के साथ ऐसी निकटता स्थापित कर सके ? क्या उसके जीवन में अब भी कोई सूनापन है ? अथवा जीवन को वह एक प्रयोगशाला मानती है ? आखिरकार उसकी स्थिति क्या है ?

रह गयी बात मेरी तृप्ति की। मैं क्यों उसके इस प्रस्ताव पर इतना मोहित-उन्मत्त हो उठा हूँ ? सम्मान-दान शिष्टाचार का एक अंग है। तब ऐसी क्या खास बात है कि मैं अपने अन्दर इन नाना कल्पनाओं का जाल बुन रहा हूँ ! क्या नारी किसी को अपनी श्रद्धा इसीलिए देती है कि वह उसके साथ अपने हृदय का मेल चाहती है ? सोचता हूँ, सम्भव है, यह सब मेरे ही मन का खेल हो—एक प्रमाद। किन्तु कुछ हो, जब फड़ जम ही गयी है, तो एक बार कौड़ी फेंके बिना मैं मान नहीं सकता।

मैंने कह दिया—"उनसे कह देना कि हाँ, आपत्ति है, बहुत बड़ी आपत्ति है ! लेकिन उसे मैं उन्हीं को बता सकूँगा।"

'अरे !' मैंने सोचा—'यह मैं क्या कह गया। मैंने कहा—"अच्छा यह सब कुछ न कहना। कहना, सिर्फ़ आज ही को नहीं, सदा के लिए हो, तो स्वीकार है।···अरे न, यह भी नहीं। कहना परदे की ओट से ही—यदि आवश्यक हो तो—मैं पहले उनसे दो बातें करना चाहता हूँ, तभी कुछ निश्चित रूप से बता सकूँगा।"

कदुआ अब की बार चला ही गया; अन्यथा मैं इस उत्तर को भी

कुछ बदल देता। मुझे अपना यह उत्तर भी कुछ जँचा नहीं। ऐसा जान पड़ा, जैसे यह भी अभी असंयत ही है।

फिर सोचा—'हाय मैंने क्या कहला भेजा!'

कामना की कोई सीमा नहीं है जीवन में। गति-ही-गति की लाली चारों ओर देख पड़ती है। 'अभी और—अभी और' के ही आवर्तन इस छोर से उस छोर तक फैले हुए हैं। कहीं भी इति नहीं है, थाह नहीं है। हाय री जीवन की यह तृष्णा!

मेरे हृदय में भी कैसा द्वन्द्व मचा हुआ है! आपने देखा? एक ओर 'अरे बस, चुप-चुप!' है और दूसरी ओर 'यह नहीं वह'—'ऐसा नहीं वैसा।' परन्तु भाई मेरे; मैं सचमुच दयनीय भी तो हूँ। करूँ तो क्या करूँ! मैंने अपना ऐसा ही संसार बना रखा है। मैं तो जीवन को एक प्रवाह मानता हूँ।

इसी समय कदुआ फिर मेरे सामने आ खड़ा हुआ।

एकाएक मेरे मुँह से निकल गया—"अभी नहीं, घंटे भर बाद आना। तब जो कहेगा, सुनूँगा।"

मैं नित्य-कर्म से अभी निवृत्त हुआ हूँ। दो बीड़े पान मय सुरती के मुँह में दबाकर सोचता हूँ—'कितना अच्छा होता, यदि मैंने कल ही यह झगड़ा न पाला होता।' कहला दिया होता—'अब तो सोने जा रहा हूँ। कल फिर बजेगी वंशी; आज अब नहीं।' उत्तर शुष्क ही रहता, तो भी. उचित यही था। अपने राम तो अब मिश्रित किंवा लिप्त से तटस्थ ही बहुत भले! जीवन की इस मध्याह्न बेला में और अधिक ममत्व के प्रलोभन की ऐसी आवश्यकता ही क्या है!

परन्तु यह विचार भी कितना भ्रममूलक है! क्या जब कभी जो कुछ भी इस निखिल जगत् में हुआ करता है, सब में मनुष्य आवश्यकता-ही-आवश्यकता देखा करता है? जब मन की दुनियाँ में पदार्पण करने की बेला आये, तब भी क्या वह उपयोगिता की ही जड़मूर्ति की अर्चना करने बैठे?

तब फिर जो उपयोगी नहीं है, क्या उसका अस्तित्व विश्व में किसी मूल्य का नहीं गिना जा सकता ? क्या वह इतना नगण्य है ?

अच्छा तो फिर इसका निश्चय करने का अधिकार किसने अपने सिर पर बाँध रखा है कि संसार में यह उपयोगी है; और यह अनुपयोगी ? और उसका दृष्टिकोण किस प्रकार निर्धारित किया जायगा ? मानता हूँ—अर्थशास्त्र और समाज-नीति के बटखरे इसीलिए बने हैं। और समाज की शांति-रक्षा के लिए शासन-व्यवस्था के रूप में राजनीति का न्याय-दंड भी हमारे ऊपर है। किन्तु मैं तो मनुष्य की कामना को इन सब के ऊपर मानता हूँ। मैं दंड भोगने को तैयार हूँ।

—'नहीं भाई अधीर न होओ। ऐसी कोई बात नहीं है। और यदि कहीं किसी प्रकार हो भी, तो तुम्हारे लिए तो उससे मुक्ति का भी मार्ग····।···क्या ही अच्छा होता, यदि गोपालबाबू भी इस समय यहाँ उपस्थित होते ! लेकिन वे होते कैसे ? मैं किसी को अपने जीवन का साझीदार नहीं बना सकता। पहले मैं हूँ, उसके बाद जगत है। पहले मेरा अधिकार है, उसके बाद किसी और का। पहले मैं जिऊँगा, पहले मैं आगे आऊँगा, पहले मैं हूँ, मैं······।'

देर तक यही सब मन-ही-मन सोचता रहा।

सुचित्त होकर अभी मैं बैठा ही था कि कदुआ ने आकर कहा—"मालकिन आपको बुला रही हैं।"

उस समय मैं नंगे-बदन बैठा हुआ था। रेशमी चादर मैंने बदन पर डाल ली। मुँह में दो बीड़े पान दबाकर कदुआ के साथ ही मैं बगल के कमरे में, चन्दा के आगे, जा पहुँचा।

पास ही कुर्सी पड़ी थी। उसने जरा सकुचाते शरमाते हुए अपनी नतमुखी दृष्टि से कहा—"आओ, बिहारी बाबू !"

नवयौवन की उन्मद उल्लास-लहरी अभी वैसी ही सजग है, जैसी

चंचल कपोती की अस्थिर ग्रीवा रहा करती है। गोरी-गोरी पतली-पतली अँगुलियाँ हैं, पान की लालिमा में डूबे हुए अधर। आकर्ण विलम्बित नयनारविंद निखिल लोनी अंग-लता में फूटे पड़ते हैं। ऐसा कमनीय कलेवर, ऐसी सम्मोहन रूप-राशि, तो अब तक देखने में आई न थी। पर ऐसी निर्मल शरच्चंद्रिका-सी चन्दा से मेरा यह अप्रत्याशित परिचय कैसा ! और मेरा 'बिहारी' नाम इनके पास तक पहुँचा कैसे ? मैं चकित-विस्मित होकर चित्रलिखित-सा अवसन्न होकर रह गया !

मैं अभी कुर्सी पर बैठ ही पाया था कि स्टोव पर चढ़े हुए हलुए को सुनहली पीतल की चमची से टारा-फेरी करते हुए चन्दा कहने लगी—"आपने मुझे तो पहचाना न होगा।"

मैंने कहा—"मैंने आपको कहीं देखा ज़रूर है। पर......?"

चन्दा बोली—"अच्छा; पहले याद कर लो...... ।"

वाक्य पूरा करती हुई वह मुस्कराने लगी।

मैंने कहा—"नहीं याद आता, कहाँ देखा है। पर इतना जानता हूँ, कहीं भेंट जरूर हुई है।"

"तो फिर मैं ही स्मरण दिलाऊँ ?" कहते हुए उसने स्टोव को शांतकर, थोड़ा-सा हलुआ एक तश्तरी में डालकर मेरे सम्मुख, एक छोटी टेबुल पर रख दिया; कदुआ एक गिलास पानी मेरे पास रख गया।

अब चन्दा कहने लगी—"श्रीत्रिलोकीनाथ को—जो आजकल इम्पीरियल बैंक कानपुर के करेंट-एकाउण्ट-विभाग में क्लर्क हैं—आप जानते हैं ?"

"अच्छी तरह।"

"उनका विवाह जानते हैं, कहाँ हुआ है ?"

"फैज़ाबाद में। ...ओहो ! अच्छी याद आई। बस-बस, वहीं तुमको देखा था वहीं। परन्तु उस समय तो......।"

"हाँ, कहते जाओ, उस समय क्या हुआ ?" कहते हुए उसकी दंत-मुक्ताएँ झलक पड़ीं। भीतर का कलहास बाहर निकलकर खेलने लगा।

मैंने कहा—"उस समय तो मैं छोटा-सा था। आज इतने दिनों बाद आपने पहचानकर मुझे झकझोर डाला!"

"हाँ, बहुत छोटे-से थे, बहुत ही छोटे—दूध के दाँत भी न गिरे होंगे! क्यों?"

"तो भी कम-से-कम पाँच-सात वर्ष तो हो ही गये होंगे।"

"और वह गुलाब-जल से भरी हुई पिचकारी सब-की-सब, खाली करके शराबोर करनेवाले भी शायद आप न थे; कोई और रहा होगा! क्यों?"

मेरे मन में एक प्रश्न उभर रहा था—क्या यह विश्व इतना मधुर है?

वह बोली—"अब तो ठंढा पड़ गया होगा, खा लो जरा-सा। नुकसान न करेगा।"

जिन दिनों की बातें यह चन्दा कह रही है, मेरे वे दिन बड़े सुख के थे, बड़े रसीले! आज जब उन दिनों की बातें, वे प्यार-भरी स्मृतियाँ, मैं भुलाए बैठा हूँ, या कम-से-कम भुलाने की चेष्टा में रत रहता हूँ, तब तरुणजीवन-मदिरा के इस उतार में उन उन्मद-रागों को छोड़कर मेरे सोये हुए मानस में यह स्पंदन, यह हलचल मचा देनेवाली चन्दा, तुम यह क्या कर रही हो?—सोचते हुए मेरे मानस में हिलोरें उठने लगीं।

वह बोली—"न तो नाश्ता शुरू करते हो, न कुछ उत्तर देते हो! यह क्या बात है! बिहारी बाबू?"

पुरानी स्मृतियाँ फिर हरी हो आयी हैं। कुछ मूर्तियाँ सामने खड़ी हैं और जैसे मैं उनमें हँस-बोल रहा हूँ। एक, दो, तीन, चार—अनेक हैं। उनकी अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् सीमाएँ हैं। वे मेरी मर्यादा से बहुत दूर हैं। सब तरह से मेरे लिए दुर्लभ। सोचता हूँ, हो सकता है कि फिर कभी उनसे मिलने का अवसर न मिले। यह भी जानता हूँ कि वे

क्षण फिर दुबारा लौटेंगे नहीं। किन्तु वर्तमान के प्रति विरक्ति भी कैसे रख सकता हूँ! मैं देवता नहीं हूँ। मैं मनुष्य हूँ; सो भी आज के समाज का। क्या मैं उनसे बात ही न करूँ? क्या उनके प्रश्नों का उत्तर भी न दूँ? मैंने उत्तर दिये। मैंने बातें कीं। मुस्कराहट भी मेरे होठों पर आयी। मिठास भी मेरे मन में घुली। प्रस्ताव-के-प्रस्ताव मेरे सम्मुख आये।...'मेरे यहाँ क्यों नहीं आते? क्या मुझसे मिलना भी आपको स्वीकार नहीं?'....'मैं तो तुम्हारे बहुत निकट हूँ—बिल्कुल रास्ते में पड़ती हूँ। एक दिन के लिए क्या.. स्टेशन पर रुककर ठहर नहीं सकते?'... 'मेरा और तुम्हारा नाता तो वैसा दूर का नहीं है। वे मेरी ननद होती हैं। उनको भी साथ ले आओ न? मेरे यहाँ एक दिन रुक जाना उनको खलेगा नहीं।' पचासों बातें हैं। किस-किसको याद करूँ! मैंने उनको कभी विशेष महत्व नहीं दिया। वे सब बहुत सम्पन्न हैं। मैं उनके साथ समानता का व्यवहार निभा नहीं सकता था। पैसे का अभाव सदा काटता रहा। हाथ मल-मलकर रह गया हूँ। रातें करवटें बदलते बीती हैं। आँखें सूज-सूज गयी हैं। आफ़िस में काम का हर्ज हुआ है और परिणाम में डाँट खानी पड़ी है। सदा जलता ही रहा हूँ। आज भी वह जलन शान्त नहीं हो पायी है।

मेरे मौन रहने पर फिर वह बोली—"अच्छा, न कहूँगी और कुछ। अरे! तुम तो आँसू पोंछने लगे!"

क्षण-भर ठहरकर, अपने उमड़ते हुए हृदय को संयत करती हुई चन्दा कहने लगी—"दुःख क्या केवल तुम्हारे ही हिस्से में पड़ा है बिहारी बाबू, जो उसे सँभाल नहीं सकते? तुम मेरी ओर क्यों नहीं देखते! मेरे दुःख की भी कहीं कोई सीमा है?—क्या कहीं कोई उसकी थाह तक पहुँच सकता है! लेकिन मैं तो रोती नहीं हूँ; बल्कि 'हँसोड़' नाम से प्रसिद्ध हो रही हूँ।"

आँसू पोंछ, ज़रा-सा स्थिर हो, हाथ-मुँह धो-कर मैं नाश्ता करने बैठ गया।

"मेरी व्यथा की कथा न पूछो बिहारी बाबू, उसे मेरे अन्तर में यों ही छिपी पड़ी रहने दो।" कहते-कहते चन्दा के नयनों से मोती झरने लगे।

मैंने कहा—"तो फिर जाने दो उन बातों को। व्यर्थ में अपने को क्यों और अधिक व्यथा पहुँचाई जाय!"

पर चन्दा के मन का उद्वेग तो छाती फाड़कर बाहर निकला पड़ता था। बोली—"परन्तु अब तुमसे कहे बिना, जान पड़ता है जी न मानेगा।"

मैं उसे इकटक देखता रहा। तब कुछ रुकती हुई वह बोली—"ब्याह तो मेरा कहने भर को ही हुआ है। पति का सुख नारी के लिए क्या वस्तु है, मैंने आज तक नहीं जाना और अब वह अन्तर्यामी ही जानते हैं, आगे भला क्या जान सकूँगी।···चार विवाह किये बैठे हैं। एक तो रोते-कलपते चल बसी। उसने तो नया जीवन पाया। दो में से एक मकान पर है, एक अपनी माँ के यहाँ आज दो वर्ष से पड़ी हुई है। चौथी मैं हूँ। शरीर उनका देखते ही हो, सूखकर कैसा काँटा हो गया है! मदिरा इतनी अधिक पीते हैं कि एकदम बेहोश हो जाते हैं। कभी-कभी मेरे मुँह में बोतल ठूँसने का उपक्रम कर बैठते हैं! किसी के समझाने का कोई असर नहीं होता। समझाते समय तुरन्त अपनी ग़लती मान लेंगे; ज़्यादा परेशान करोगे तो रोने लगेंगे; पर एकान्त पाकर फिर ढालने लगेंगे। उनकी बातें सुनो तो आश्चर्य से चकित हो जाओ। कहते हैं—"चार दिन की ज़िन्दगी के लिए अब इसे क्या छोड़ूँ! जब तक मैं हूँ, तब तक 'मय' भी साथ चलेगी, फिर जब मैं ही न रहूँगा, तो 'मय' कहाँ से आयेगी, किसके पास आयेगी! वही मेरा प्राण है—जीवन है। अच्छा तो मनुष्य का जीवन भी क्या एक क़िस्म का नशा नहीं है? नशा नहीं है, तो एक दूसरे को क्यों नोचते-खसोटते हो? झोपड़ियाँ जलाकर महल खड़ा करने की साध नशा नहीं, तो फिर क्या है? दुनियाँ को धोखा देकर, उसकी आँखों में

धूल झोंककर, संसार के जो समस्त व्यवसाय-वाणिज्य अहर्निश तुमुल-नाद के साथ चल रहे हैं, उनके मूल में भी तो एक नशा ही है। तो फिर यदि मैं भी अपने नशे में मस्त रहता हूँ, तो क्या बुरा करता हूँ?"

इस समय मैंने देखा—चन्दा का मुख निर्मल स्वर्णिम आलोक से एक-बारगी ज्योतिर्मय हो उठा। भीतर का अवसाद अस्ताचल गमनोन्मुखी भगवान दिनकर की अन्तिम रश्मि की भाँति, अंतरिक्ष में लीन होते हुए भी, चन्दा के मुख पर झिलमिल-झिलमिल होने लगा। अपनी अधीर, किन्तु लजीली आँखों से मेरी ओर इकटक देखते हुए उसने कहा—"एक दो नहीं, उनकी सभी बातें विचित्र हैं, बिहारी बाबू! एक दिन उन्होंने बतलाया कि यह मैं अच्छी तरह से जानता हूँ—संसार में जिसे 'सुख' कहा जाता है, वह मेरे द्वारा इन सोने की पुतलियों को नहीं मिलेगा। केवल मन से ही नहीं, शरीर से भी मैं कितना जर्जर हो रहा हूँ, सो देखती ही हो? परन्तु मैं अपनी इच्छाओं के लिए विवश हूँ। मेरे तरुण जीवन का जब प्रभातकाल था, तब अपनी प्रथमपत्नी को मैंने अतुल सौंदर्यशालिनी के रूप में पाया। बहुत बड़ी साध के साथ मैंने उसका अपने प्यार का नाम रखा—प्रियंवदा। और प्रियवंदा मेरे जीवन में प्राण-मयी होकर रही। मिश्री की डलियाँ जैसे ऊपर से उज्ज्वल और चम-कीली होती हैं और भीतर से एकदम मीठी—रसवंती; वैसी ही मेरी प्रियंवदा थी। परन्तु थोड़ दिनों में, देखते-देखते, वह मरालिनी उड़ गयी। उसकी शान्ति-क्रिया भी न हो पायी थी कि विवाह के तीन प्रस्ताव मेरे पास आ गये, अपनी रुचि के अनुसार मैंने तीनों को देख-देखकर ब्याह लिया। अब ये मेरी रंभा मेनका और उर्वशी हैं। क्या बताऊँ, उस समय मुझे एक जिद-सी सवार हो गयी थी। मन में आया—'तुमने यदि मुझसे एक को छीन लिया, तो देख लो, मैं फिर वैसी ही तीन रखता हूँ! तुम्हारे राज्य में यदि मैं चूँ करने की, विनय-प्रार्थना की, कोई सुनवाई नहीं पाता, तो फिर तुम्हारे विधान को मैं भी जैसा चाहूँगा, ठुकराऊँगा!'

जानता हूँ, यह एक ओर प्रतिक्रिया है—विकृति, दूसरी ओर अज्ञान।

यह एक व्यक्तिवादी अहंभाव है। समाज की व्यवस्था इसको सहन नहीं कर सकती। समाज व्यक्ति को इतनी स्वतंत्रता नहीं दे सकता। राजकीय विधानों से इसे रोका जा सकता है; रोका ही जाना चाहिये। किन्तु वह व्यक्ति का, समाज की आधुनिक व्यवस्था के प्रति, एक विद्रोह भी तो है। जो लोग दुःख के अगाध को केवल ईश्वर की रचना के नाम पर सदा सहन करते और घुल-घुलकर मरते हैं, उनकी अपेक्षा इस तरह का व्यक्ति फिर भी वीर और साहसी है। मैं इस कार्य को निन्द्य मानकर भी उसके साहस की प्रशंसा ही करूँगा। मैं तो मानवमात्र की तृप्ति का समर्थक हूँ। हाँ, विरोध और कुत्सा मेरे मन में ज़रूर है इसलिए कि प्रतिहिंसा की यह पूर्ति है बड़ी भयानक। इसे हम न्यायोचित नहीं मान सकते और समर्थन हम इसका नहीं कर सकते।

दोनों ओर देखकर अन्त में मुझे प्रसन्नता ही हुई! तब मैंने हँसते हुए कहा—"तो तुम्हारा नाम उन्होंने उर्वशी रक्खा है!"

उसने आधा हँसकर आधा शरमाकर नतमुखी आँखों से कह दिया—"अब जैसा समझो।···अच्छा, क्या, यह नाम तुमको पसन्द है?"

राय न देकर मैंने पूछा—"क्या कर रहे हैं इस समय? कहाँ हैं?"

वह बोली—"सो रहे हैं। दो-तीन बजे तक उठेंगे।"

मैंने कहा—"हाँ; कहती जाओ।"

मैंने देखा, वह अपने भीतर छिपे हुए मनोभावों की तह-सी खोल रही है।

कहने लगी—"हम तीनों साथ-साथ रह चुकी हैं। हमने यह अनुभव किया कि इनमें प्रेम की ज्वलंत आग है। ऐसी बात नहीं है कि यह हममें से किसी को ज़रा-सा भी कम चाहते हों! पर मैं तुम्हें कैसे समझाऊँ बिहारी बाबू कि क्या इसका अर्थ यही नहीं कि वह किसी को भी नहीं चाहते? कम-से-कम मैं तो ऐसा नहीं समझती। यदि मनुष्य हृदय से साफ़ हो, उसके भीतर कोई चोर न हो, तो वह अन्यायी भले ही कहला ले, पर दयनीय अवश्य होगा। परन्तु मेरी पूर्ववर्तिनी दोनों बहनें—रंभा

और मेनका—इन बातों की यथार्थता नहीं समझती। मैं समझा-समझाकर हार गयी। पर वे कहती हैं—'नारी अपने मन की साम्राज्ञी होती है। उसे तो अपने पति का पूरा मनोराज्य चाहिये।' उनका कहना भी मैं कैसे कहूँ कि ठीक नहीं है ? पर मैं कम-से-कम अपने दृष्टिकोण से ऐसा नहीं समझती। मैं तो समझती हूँ कि नारी को पति का केवल आत्मावलंब चाहिये। हृदय के एक कोने में छिपी पड़ी रहने भर को भी यदि पति स्थान दे दे, या नारी पति से पा ले, तो फिर उसको और कुछ न चाहिये। सो सच जानो बिहारी बाबू, मेरे दुःख-सुख का जोड़ है—मेरे लिए दोनों एक-से हो गये हैं, उन्होंने परस्पर समझौता कर लिया है।"

मुझे ऐसा बोध होने लगा कि यह नारी नहीं, देवी है—जगत्शक्ति साथ ही मुझे अपने आप पर भी एक प्रकार की क्षुद्रता प्रतिबिंबत होती हुई देख पड़ी। कोई कानों में कहने लगा—'क्यों बिहारी, तुमने अब तक जो कुछ पढ़ा-लिखा है, जो कुछ भी विद्या-बुद्धि अर्जित की है, इस नारी ने अपने भावालोक से उसे कैसा शिथिल और निर्जीव करके छोड़ दिया है!'

उसी दिन मैं गोपालदादा को साथ लेकर मथुरा होता हुआ आगरा जा पहुँचा। रात को ग्यारह बजे जब मैं अपनी वंशी बजाने बैठा तो चन्दा की सारी बातें मेरी वंशी के स्वरों से निकलकर मूर्तिमान हो उठीं।

गोपालदादा बोले—"आज तो बड़ी तैयारी के साथ बजा रहे हो यार! वर्षों बाद यह रंग देख पड़ा। जीवन-रसाल की डाल पर फिर कोई कोयलिया तो नहीं बोल गयी ?"

इसी समय किसी ने नीचे से आवाज़ दी—"यहाँ कोई बिहारी बाबू ठहरे हैं—बिहारी बाबू। उनके नाम एक तार है।"

मैं चट-से नीचे आकर पहले लिफ़ाफ़ा फाड़कर तार पढ़ने लगा। उसमें लिखा था—

उन्हें कालरा हो गया है। तुरन्त आओ।

—चन्दा।

उपर आने पर गोपालदादा ने पूछा—"किसका तार है? कहाँ से आया है?"

मैंने तार उनके हाथ पर रख दिया।

देखकर उन्होंने पूछा—"यह चन्दा कौन है बिहारी?"

मैं कुछ क्षणों के लिए एक दम से अस्थिर हो उठा।

अंत में मैंने कहा—"अब यह सब इस समय इतनी जल्दी में तुम्हें कैसे बताऊँ? अच्छा उठो झट से, मुझे स्टेशन पहुँचा आओ। रास्ते में बाक़ी सब बताऊँगा।"

मैं इस समय अपने को एक भयानक आँधी में पा रहा हूँ। एक व्यथा, एक हलचल, एक उन्माद मेरे चारों ओर चक्कर लगा रहा है।

जौहरीजी के अच्छे होने में कई दिन लगे। डाक्टरों का आना-जाना पहले कई दिनों तक जारी रहा। चारों ओर घबराहट, सावधानी, चिन्ता और मूकता का ही राज्य रहा। रुपया पानी की तरह बहता था। जिसने जितना माँगा, चन्दा ने तुरन्त दिया। रातें बैठे-ही-बैठे बीततीं। प्रत्येक प्रातःकाल एक चिन्ता लेकर उपस्थित होता। प्रत्येक रात एक सन्नाटे के साथ कटती। दो दिन के बाद विश्वास हो चला कि जौहरीजी बच जायँगे। चिन्ता की कोई बात नहीं है। चन्दा की आँखें सूज गयी थीं। वह बिल्कुल सो न पाती थी। मुझसे कभी-कभी ज़ोर और ज़बरदस्ती का भी उसने प्रयोग किया। मैं चाहता था, उसको आराम दूँ, किसी तरह उसको, पूरी नींद न सही, एक झपकी ही लग जाय। पर वह मुझको अधिक-से-अधिक आराम देना चाहती थी। मेरा कहना था कि सारी ज़िम्मेदारी मेरी है। मैं जौहरी साहब को अच्छा कर लूँगा, तुम चिन्ता मत करो।

उसने उत्तर दिया—"तुम्हारी ज़िम्मेदारी कुछ नहीं है। मैं अपनी चीज को तुम्हारे हाथ में कैसे सौंप दूँ? भाग मेरे फूटेंगे, सेंदुर मेरे भाल

का जायगा, चूड़ियाँ मेरी फूटेंगी और संसार मेरा नष्ट होगा; आपको क्या ?"

मैं तब अवाक् रह गया।

मकान काफ़ी बड़ा था। नौकर भी पाँच-सात। रात और दिन में अलग-अलग काम करनेवाले। लेकिन नहीं, मेरे आराम से सम्बन्ध रखनेवाले कार्य चन्दा स्वयं करती। सोने के लिए मेरा पलँग वह स्वयं बिछाती। समय-समय पर पान-शरबत, नाश्ता और भोजन का प्रबन्ध वह स्वयं करती। नौकरों से काम लेते क्षण भी स्वयं उपस्थित रहती। रात को औटाया हुआ गरम दूध पिलाने के लिए गिलास लेकर वह स्वयं सामने उपस्थित हो जाती। मैंने हरचन्द कोशिश की, हर तरह से समझाया, पर उसने एक न सुनी। चिन्ता और घबराहट के उस वातावरण में उसके इस अतिरंजित आतिथ्य और शिष्टाचार की जब मैं भर्त्सना करने लगता, तो बात-की-बात में भीतर का अगोचर भाव उसके होठों पर आ जाता। वाणी फूट पड़ती—"ज़रा सुनूँ तो सही, क्यों यह अनुचित है ? कैसे तुम इसको अतिरंजित कहते हो ? बड़ी हिम्मत हो, तो कह दो—"तुम मेरे साथी नहीं हो! कह दो—मेरा तुम पर कोई अधिकार नहीं!" तब मुझे उसका अनुरोध मानना ही पड़ता।

मैं इन बातों को और बढ़ाना नहीं चाहता था। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि उस समय उसी घर में जो एक प्राणी जीवन और मृत्यु की लड़ाई लड़ रहा था, वह हमारा आत्मीय था। उसकी मंगल-कामना के लिए हम लोग एक विशेष कार्यक्रम में बँधे हुए थे। हमारी यह मैत्री सर्वथा नयी थी। हम लोग अभी एक-दूसरे से अच्छी तरह विचार-विनिमय भी नहीं कर पाये थे। हमारी मान्यताओं को अभी एक-दूसरे के साथ टकराने का अवसर ही नहीं मिला था। हमारी साँसों का सम्बन्ध अभी सर्वथा अलग-ही-अलग था। मेरे भीतर अतृप्ति की आग थी; उसके फलस्वरूप आँखों में मोह और आकर्षण का नशा था। हमारी वाणी एक शिष्टाचार—एक मर्यादा—की सीमा-रेखाओं के भीतर-ही-

भीतर चल-फिर सकती थी। हमारा क्षेत्र सीमित था, किन्तु हमारी कल्पनाएँ असीम थीं। हमारा लक्ष्य बहुत दूर था, किन्तु हमारा पथ सुनिश्चित और सीमित। हमारी कामनाएँ नवीन और अनोखी थीं, किन्तु उनका रूप अधखुला, बहुत कुछ कल्पित था—बहुत कुछ अनिर्णीत। भविष्य हमारे लिए अथाह समुद्र में तैरने का एक प्रयोग था। जीवन हमारे लिए अकल्पित घटनाओं से भरा, घात-प्रतिघातों से आच्छन्न, संकटों और खतरों का एक निमंत्रण था। हमारे भीतर प्रश्न उभरते थे, पर उन्हें वाणी का रूप दे पाने में हम समर्थ न थे। भीतर से हम भरे हुए, तैयार और सजग थे, किन्तु ऊपर हमारे संस्कृति, मर्यादा और शिष्टता का ऐसा एक आवरण चढ़ा हुआ था कि हम टस-से-मस न हो सकते थे। बोलते हम थे, किन्तु हमारे बोलों की शब्दावली परिस्थिति-जन्य वातावरण की एक माँग होती थी। सुनते हम थे, किन्तु हमारे कानों पर उत्तरदायित्व की एक विद्युतशक्ति का प्रभाव था। वह हमको केवल सुना सकती थी, हमारी वाणी—हमारा अन्तःस्वर—ग्रहण न कर सकती थी। मानो फ़ोन का स्वर ही हम प्राप्त कर सकते थे, अपना स्वर उसे दे नहीं सकते थे।

किन्तु चन्दा की स्थिति ऐसी न थी। वह रात-दिन काम में लगी रहती। नौकरों से काम लेने में वह पूर्ण दक्ष थी। दवा लाने की बात होती, तो अच्छी तरह समझा देती—"देखो, एक शीशी मिलेगी। वह एक खूबसूरत खोल के अन्दर होगी। खोल को दूकान के बाबू के सामने उन्हीं से खुलवाकर देख लेना, शीशी ख़ाली न हो। कार्क मोम से खूब जमा होगा। देख लेना, खुला हुआ न हो। नोट के बाक़ी रुपये और पैसे ठीक तरह से गिन लेना। रास्ते में होशियारी से लाना। हाथ से कहीं छोड़ न देना।"···काम बिगड़ जाने पर डाँट बता देती—"बड़े लापरवाह हो। पिटने का काम किया है। अरे, इतना तो ख्याल किया होता कि जिसकी सेवा से तुम्हारी जीविका है, वह मृत्यु-शैया पर है। भगवान ही बचाये, तो बच सकता है! तुम्हारी ज़रा-सी भूल से उसकी जान जा

सकती है।" किन्तु शाम के वक्त जब उसे छुट्टी का अवसर देती, तो दम-दिलासा देने में भी न चूकती। कहती—"भूल तुमसे हो गयी थी। आदमी से हो ही जाती है। लेकिन संकट के समय आदमी को मामूली तौर से कुछ ज्यादा होशियार रहना पड़ता है।" फिर रसोइये को लक्ष्य करके कहती—"दोपहर के खाने में जो पूरियाँ बची हैं, इसे दे दो महराज। दिन-भर उसे दौड़ने में बीता है।" इस प्रकार क्रोध और दया, अनुशासन और पुरस्कार उसकी दिन-चर्य्या के मुख्य अंग बन गये थे। अनेक बार देखने में आया कि कोई एक वाक्य जो नौकर से कहा गया है, आदेशात्मक होने के कारण रुखाई और उग्रता से भरा हुआ है। परन्तु उसके बाद ही ऐसा प्रसंग आ गया कि दूसरा वाक्य मुझसे कहना पड़ा, जिसमें परामर्श, सम्मति और संशोधन की बात है। मुख पर गम्भीरता के स्थान पर उत्साह और प्रसन्नता की झलक है, आँखों में एक सहयोग, सहृदयता और अभिन्नता का भाव। यह देखकर मैं चकित हो उठा।

अपने आपसे अनेक बार पूछकर देखा है—ऐसा तो नहीं है कि मेरे मन पर इस रमणी की जो छाप पड़ रही है उसका कारण केवल यह हो कि मैं उससे आकृष्ट हूँ और इसीलिए उसमें मुझे गुण-ही-गुण मिल रहे हों। जो भाव मेरे मन में यकायक स्थान जमा लेते हैं उनके प्रति मैं बहुत सजग रहता हूँ। साधारणतया मैं उन्हें सत्य नहीं मानता। हर एक अनुभूति को अपने भीतर यों ही नहीं रख लेता हूँ। स्पर्शमात्र से पिघल जानेवाला प्राणी मैं नहीं हूँ। न आवश्यकता से अधिक सावधान हूँ; न उचित से अधिक तटस्थ। प्रत्येक स्थिति को अच्छी तरह समझकर ही उसके विषय में अपना मत निर्धारित करता हूँ।

धीरे-धीरे संकट-काल समाप्त हो गया। तीसरे दिन जौहरीजी ने आँखें खोल दीं। सामने चन्दा उपस्थित थी। बोले—"तुमने मुझे बचा ही लिया चन्दा।" पर उस समय डाक्टर विश्वास भी उपस्थित थे। झट बोल उठे—"बस ज्यादा बातचीत न कीजिये। अभी आप कमजोर बहुत

हैं। ईश्वर को हज़ार-हज़ार धन्यवाद है कि उसने आपको बचा लिया।"

इसके बाद डाक्टर बिश्वास तो अनार का रस, थोड़ा-सा गरम दूध और एक मिक्स्चर देने की व्यवस्था करके चले गये। मैं भी अपने कमरे में आ गया। थोड़ी देर में चन्दा ने आकर कहा—"नींद आ गई है। परन्तु ज्वर शायद आ जायगा। डाक्टर साहब जाते समय कह गये हैं—ज्वर हो आना स्वाभाविक है। चिन्ता का कोई कारण नहीं है।···आप को चाय अभी तक नहीं आयी न ? अभी भेजती हूँ।" और इन्हीं शब्दों के साथ वह लौट पड़ी। मैंने कह दिया—"लेकिन सुनिये, मैं आज इस तरह चाय नहीं पिऊँगा। आज आपको भी मेरे पास बैठकर चाय पीनी पड़ेगी।"

चन्दा ठहर गयी। घूमकर कुछ मेरी ओर बढ़कर बोली—'लेकिन आप तो जानते हैं, मैं चाय नहीं पीती।"

मैंने पूछा—"क्यों, चाय से आपको ऐसी नफ़रत क्यों है ?"

वह बोली—"यह समय बहस करने का नहीं है। मकान की सफ़ाई ठीक तरह से अभी नहीं हुई। रामदुलारे साग लेकर अभी तक लौटा नहीं। धोबी के यहाँ से कपड़े आ गये हैं। उसको विदा करना है। बीस काम हैं। काम के समय···।" और फिर वह लौट गयी।

आज शाम को जब डाक्टर बिश्वास जौहरीजी की स्थिति पर पूर्ण संतोष प्रकट करके चले गये और मैं फिर भी उनके पास उपस्थित बना रहा, तो उन्होंने चन्दा से प्रश्न किया—"आपको मैंने नहीं पहचाना। सबेरे भी आप मौजूद थे। मैं पूछता-पूछता रुक गया था।"

चन्दा ने उत्तर दिया—"ये मेरे बन्धु हैं, साथी और मित्र हैं। सब तरह से अपने आत्मीय हैं। इनकी सहायता न मिलती, तो मैं बड़ी कठिनाई में पड़ जाती। रहते कानपुर में हैं। इधर अपने एक मित्र के साथ घूमने के इरादे से आ गये थे। कुछ दिन यहाँ रहकर आगरा चले गये थे। तार देकर इन्हें बुलाना पड़ा।"

मैंने देखा, चन्दा ने मेरा परिचय देने में कहीं कुछ छिपाया नहीं,

संकोच नहीं किया। मैंने यह भी अनुभव किया कि उसके मुख का भाव भी कुछ बदला नहीं। यहाँ तक कि गम्भीरता की एक हलकी छाया भी उस पर लक्षित नहीं हुई। हाँ, बात समाप्त करते हुए उसने एक बार मेरी ओर देख लिया। मैं उस समय जौहरीजी के मनोभावों का अध्ययन कर रहा था। शरीर और मुख को देखकर मेरे मन पर उनकी जो छाप पड़ रही थी, उसके अनुसार मैं सोचने लगा—'सचमुच इस आदमी ने जीवन की ऊँची-नीची घाटियाँ पार की हैं। आँखों के नीचे पलकों की तराइयाँ कुछ गहरी और श्याम हो गयी हैं।'

उस समय चन्दा भीतर चली गयी। बाद में मालूम हो गया कि दवा पिलाने के लिए शीशे का गिलास लेने गयी थी। इस बीच में जौहरीजी बोले—"मैं इस कृपा के लिए आपका कृतज्ञ हूँ।"

मैंने कहा—"चन्दा से आपकी प्रशंसा सुनकर बहुत पहले से आप से मिलने को उत्सुक था। संयोग से ऐसा अवसर भी मिल गया।"

जौहरीजी उठकर बैठ गये। सिरहाने कई तकिया एक साथ रखकर उन्हीं के सहारे बैठना चाहते थे। भाव देखकर पैताने पड़ी हुई तकिया तब मैंने उठाकर सिरहाने रख दी। इसी समय चन्दा आ पहुँची। बोली—"जाइये, आपकी चाय ठंढी हो रही है।"

जौहरीजी के हाथ में तब तक शीशे के गिलास में दवा की ख़ूराक थी। पीते-पीते ज़रा-सा मुँह बिदोरते फिर रूमाल से होंठों को पोंछते हुए कहने लगे—"हाँ साहब, जाइये आप लोग चाय पीने। मेरा इस्तीफा तो मंजूर होते-होते रह गया।···पान देना चन्दा। कई दिन बाद आज सूरत देखने को मिली है।"

ऐसा जान पड़ा, जैसे बिजली के लीक करते हुए तार पर हाथ पड़ गया है। उनकी ओर ताकता रह गया। चन्दा ने जूठे गिलास को इलमारी में रख दिया। इसके बाद वह मेरी ओर देखती हुई जौहरी साहब के पलँग के दूसरी ओर जा पहुँची। वहाँ कुरसी पर बैठती हुई बोली—"ठाकुरजी के मन्दिर से प्रसाद आया है। आपको रख आई हूँ। पर आप तो··· ।"

"हाँ भई, मैं तो अब ठहर ही गया हूँ। आप लोग अपनी दिनचर्या में क्यों विघ्न डालते हैं ?" कहकर जौहरीजी ने तश्तरी में सामने रक्खा हुआ पान उठाकर मुँह में रख लिया। साथ-ही हाथ में लगा हुआ कत्था पनबसने में पोंछते हुए पुनः बोले—"जाओ उर्वशी, बाबू साहब को चाय पिला आओ।"

मैं बराबर इस बात को लक्ष्य कर रहा था कि जौहरीजी अपने कथन में यह भाव प्रकट किये बिना नहीं रहते कि वे अपने ही घर में इस समय एक तीसरे व्यक्ति की स्थिति रखते हैं। वे इस भाव को न भूल सकते हैं, न छिपा सकते हैं, न उदारता और संयम के साथ उसको परिष्कृत करके प्रकट कर सकते हैं।

चन्दा बोली—"आपको तो चाय से कोई खास दिलचस्पी भी नहीं है। फिर क्यों आप उसके पीछे पड़े हैं ? इसके सिवा बिहारी बाबू आप चाय पीने में सदा किसी-न-किसी के साथ की प्रतीक्षा ही करते हों, यह बात भी नहीं है। एकान्त में इनको छोड़ने का अर्थ आप जानते हैं। जरा-सी सेहत जान पड़ने के बाद मुँह खोलते ही कैसे उद्गार निकाल रहे हैं, यह आप देख ही रहे हैं। ऐसी दशा में मेरा यहाँ से उठकर आपके साथ बैठकर चाय पीना···?"

बिना एक शब्द बोले मैं दूसरे कमरे में आकर एक कुरसी पर बैठ गया। सामने एक टेबिल पर ट्रे में चाय थी। किन्तु मन में चाय के पानी से भी अधिक कोई और चीज़ खौल रही थी। अपना मूल्य अपनी ही दृष्टि में खो गया था। उर्वशी के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है ? क्यों मैं उसके पीछे पड़ा हूँ ? केवल रूप का मोह, केवल वासना-पूर्ति की मिथ्या कल्पना ही तो इसका मूल कारण है। फिर उर्वशी की अपनी भी सीमाएं हैं। —और वे आज मेरे लिए सर्वथा नयी भी नहीं है।—और ये जौहरीजी भी खूब हैं। जीवन को तिनके की भांति उड़ाते और बहाते हैं, परवा नहीं, जहां चाहे वहाँ पहुँच जाय। कोई चिन्ता नहीं कि अन्त कहां है। सभी उनके लिए मान्य है। बुरा-भला कुछ नहीं। न परिवार का ध्यान है, न समाज

का। ईश्वर पर भी क्या आस्था होगी ! केवल एक व्यक्ति-ही-व्यक्ति का प्रश्न है; चाहे जिस प्रकार वह सन्तुष्ट हो। और इसमें समर्थ वे इसलिए हैं कि रुपया उनके पास है। पूर्वज छोड़ गये हैं। कुछ-न-कुछ खुद उन्होंने भी बढ़ाया ही है। ऐसे आदमी का समाज के लिए क्या उपयोग है? दो स्त्रियाँ और हैं! रम्भा और मेनका। पता नहीं वे किस दशा में हों। जैसा इस चन्दा का जीवन है, उनका भी होगा। लेकिन यह चन्दा भी आखिर क्यों ऐसे आदमी के पीछे अपना जीवन उत्सर्ग कर रही है? क्या रस है उसके जीवन में? ऐसे आदमी के प्रति उसके मन में प्रेम कैसे रहता है? इसी के लिए उसने आंखें सुजा लीं? इसी के लिये वह रोई? स्वास्थ्य की कोई चिन्ता नहीं की? विश्राम उसने जाना नहीं होता कैसा है! क्या यह सब आत्म-प्रवंचना नहीं है? आदि से लेकर अन्त तक जीवन का क्षय-ही-क्षय क्या इसमें नहीं लक्षित होता?

अरे! कब कप में चाय ढाली, कब उसमें दूध और चीनी मिलाई और कब से प्याला सामने रखे बैठा हूँ? ध्यान आते ही चाय जो मुँह से लगाई तो देखा ठण्डी हो गई है। एक ही घूंट पीकर प्याला रख दिया।

इसी समय चन्दा आ पहुँची। मेरे पीछे खड़ी हो दोनों कन्धों पर हाथ धरकर बोली—"मैं जानती थी, तुम अकेले चाय पी न सकोगे। तभी जी न माना तुम्हें देखने चली आयी।"

और कथन के साथ ही प्याले को छूकर देखने लगी, फिर खिल-खिलाकर हँस पड़ी। बोली—"वाह खूब रही। चाय आखिर ठंढी कर डाली! अच्छा, कोई चिन्ता नहीं। मैं फिर बनवाती हूँ।"

वह कमरे से चली गयी। चलते समय साड़ी सिर से नीचे गिर गयी थी। लहराता केश-पाश सिलसिलेवार पतली पड़ती हुई गुंथी चोटी और बायें कन्धे से लेकर कटिपर्य्यन्त खुला हुआ देह-भाग अर्धांश में चपकी कंचुकी-सहित एकदम स्पष्ट झलक गया। साड़ी का अंचल फर्श को भी दो कदम छूता हुआ चला गया। तब बात-की-बात में सारी उदासीनता

तिरोहित हो गई। कुर्सी से उठकर खड़ा हो गया और कमरे भर में इधर-से-उधर टहलने लगा।

एक बात यहाँ कहने से छूट गयी है। पहले उस पर ध्यान नहीं गया था। इसी समय उसे लक्ष्य कर पाया हूँ। यह कमरा वास्तव में किसी अतिथि को बैठाकर स्वागत-सत्कार करने के लिये नहीं है। यह तो वास्तव में चन्दा का शृङ्गार-प्रसाधन का अपना विशेष कमरा है। टेबिल के सामने बड़ा-सा दर्पण लगा है और उसके इर्द-गिर्द पोमेड स्नो, हेयर-ऑयल, कंघी आदि सामग्री यथाविधि लगी है। चारों ओर दीवारों पर कुछ दृश्य-चित्र भी हैं। मेरी समझ में नहीं आया, आखिर चन्दा ने मेरी चाय का प्रबन्ध इस कमरे में क्यों किया। उस समय मुझे जान पड़ने लगा, जैसे मैं किसी भूल-भुलैयों में पड़ गया हूँ। जिस ओर आगे बढ़ता हूँ, उधर ही आश्चर्य की टक्कर खाकर लौट आता हूँ। सबसे बढ़कर रहस्य मुझे इस चन्दा में देख पड़ता है। ज्यों ही इसके सम्बन्ध में मैं कोई सम्मति स्थिर कर पाता हूँ, त्यों ही यह उसे आमूल नष्ट कर देती है। कभी-कभी तो मुझे अपने सम्बन्ध में भी भ्रम होने लगता है। मैं सोचता हूँ, मैं इसके पीछे पागल तो नहीं हो गया हूँ! आख़िर क्यों मैं इसके संकेतों पर नाच रहा हूँ!

यकायक दर्पण के सामने मेरी दृष्टि जा पड़ी। मुझे ऐसा जान पड़ने लगा, जसे यह दर्पण केवल आकृति का नहीं, मन के प्रत्येक स्तर का भेद खोल देने में समर्थ है। ऐसा न होता, तो मुझे अपने विषय में उपर्युक्त आशंका क्यों होती!

टेबिल के दक्षिण ओर एक आराम कुर्सी पड़ी थी। मैं उसी पर विराजमान हो गया। पायों पर मैंने दोनों पैर फैला दिये। सोचने लगा—'चन्दा आ ही रही होगी। देखना है, अबकी बार क्या रूपक ले आती है।'

किन्तु पता नहीं कैसे मेरी आँखें झपक गयीं। कहाँ चली गई चन्दा, कहां छुट गये जौहरीजी? कुछ पता नहीं। गाढ़ निद्रा में संसार

के सारे माया मोह अन्तर्धान हो जाते हैं। हो सकता है कि चन्दा ने अन्त में इस कमरे में आकर एक मिनट के अन्दर जिस मधुर मोहक रहस्य-लोक की सृष्टि कर दी, उसी से मोहाच्छन्न होकर मुझे निद्रा-रूपी महामाया ने अपने अंकपाश में निबद्ध कर लिया हो। सम्भव है, मेरे कन्धों पर दोनों हाथ रखकर उसने केवल स्पर्श के द्वारा मुझे सम्मोहित करके निद्रा-लोक में छोड़ दिया हो। अथवा यह भी हो सकता है कि कई दिन नैश जागरण की संचित थकान अभी पूरी न हुई हो और मन को थोड़ी-सी रसानुभूति के कारण प्रकारान्तर से जो तृप्ति मिली हो, उसी का यह फल हो। जो भी कारण हो, मुझे निद्रा आ गयी और मैं सो गया। अन्त में जब मेरी आंखें खुली, तो मैं क्या देखता हूँ कि कमरे की चिक का पर्दा खुल रहा है और मुस्कराती हुई चन्दा कह रही है—"चाय तो खैर दूसरी बार भी ठंढी हो गई। पर यह अच्छा हुआ कि आपको दो-ढाई घंटे की नींद आ गयी। अब झटपट स्नान कर लीजिये। भोजन का समय हो गया।"

मैं अचकचाकर खड़ा हो गया। सम्भव था कि स्नान के लिए चल ही देता, किन्तु मेरे मुँह से निकल गया—"अगर तकलीफ न हो तो उर्वशी, एक कप चाय तुम मुझे पिला ही दो।"

घूमकर वह बोली—"अच्छा ! यह अच्छी सलाह आप लोगों ने कर रक्खी है। आप भी मुझे उर्वशी कहने लगे ! खैर मैं चाय तो अभी भेजती हूँ। पर मुझे भय है कि इस बार भी आप कहीं सो न जायँ !"

वह चली गयी। मैं फिर यथास्थान बैठ गया। मिठास जो भीतर जमा हो रही थी, जान पड़ा, अब कुछ और घनीभूत हो गयी है। चन्दा भी आज अन्य दिनों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रसन्न थी। किन्तु मेरा आशंकालु मन बारम्बार यही कह रहा था कि कहीं कोई ऐसी वस्तु संचित हो रही हैं, जिसका विस्फोट ज्वालामुखी से भी अधिक भयंकर होगा। हम सब मिलकर उस घटना की सृष्टि कर रहे हैं।

थोड़ी देर में चाय की वही ट्रे फिर सामने आ गई, जिसको सामने

रखकर अन्त में स्वयं मैंने चाय ठंढी कर डाली थी। परन्तु इस बार मुझे इस विषय में अधिक सोचने का अवसर नहीं मिला। क्योंकि चन्दा भी तत्काल सामने आ गयी। प्याले में चाय ढालने के लिए मैंने हाथ बढ़ाना चाहा कि देखा, वह स्वयं चाय ढाल रही है। मैं चुप था और मन-ही-मन सोच रहा था कि इसी समय क्यों न इससे स्पष्टरूप से कह दूँ कि जौहरीजी की तबियत अच्छी हो ही रही है, अब मुझे भी विदा होने की अनुमति मिल जानी चाहिये। किन्तु चन्दा ने मेरा प्याला तैयार करने के साथ ही अपने लिये भी दूसरे प्याले में चाय ढाल ली। मैं सोचने लगा कि इससे पूर्व उस अवसर पर जब मैंने इससे अपने साथ चाय पीने का प्रस्ताव किया था, तो इसने अस्वीकार कर दिया था। परन्तु आज मेरे आग्रह किये बिना ही वह स्वयं ही जो इसके लिए तैयार हो गई, इसका क्या कारण है ?

कारण की छानबीन मैं अपने भीतर-ही-भीतर करने लगा। ज्यों ही उसका प्याला तैयार हो गया, त्यों ही प्रसन्नता से वह बोली—"देखिये, मेरी चाय आपकी अपेक्षा अधिक गहरी है।"

उत्तर में मैंने धीरे-से कह दिया—"तबियत की बात है।"

उस समय चन्दा ने अपना प्याला होंठ से लगा लिया था। धीरे-धीरे वह उसे सिप कर रही थी। मेरी बात के उत्तर में वह मुस्कराने लगी। बोली—"बात तो वास्तव में तबियत की ही है। अन्यथा आप जानते हैं, मैं चाय बहुत ही कम पीती हूँ।"

मैं इस विषय को बढ़ाना नहीं चाहता था। यदि ऐसी बात न होती, तो इस अवसर पर मैं यह कहे बिना न चूकता कि दुनिया में ऐसे बहुतेरे आदमी हैं, जो समझा करते हैं कि उन्होंने अपने आपको अच्छी तरह समझ लिया है। परन्तु वास्तव में दुनिया उन्हें क्या समझती है, अथवा दुनिया में उन्होंने अपने आपको किस रूप में उपस्थित किया है, इसका ज्ञान उन्हें नहीं होता। और जब तक किसी व्यक्ति को इस बात का ज्ञान नहीं होता कि दुनिया को उसने अपने कार्य-कलाप से

क्या समझने दिया है, तब तक उसका यह दावा व्यर्थ है कि उसने अपने आपको अच्छी तरह समझ लिया है। क्योंकि आदमी की पहचान उसके कार्यों से होती है। यदि ऐसा न होता, तो पापी-से-पापी और दुष्टात्मा भी अपने विषय में यह समझने से कभी न चूकता कि वह एक महापुरुष है।

फिर मैंने पूछना चाहा कि क्या इसका यह अर्थ नहीं है कि इसी प्रकार जीवन को भी आपने अभी तक बहुत ही कम पिया है ?

किन्तु यह प्रश्न भी मैं कर नहीं सका। धीरे-धीरे मैं चाय पी रहा था। मुझे चुप देखकर अब उससे भी चुप नहीं रहा गया। बोली—'आप कुछ बोल नहीं रहे हैं ? क्या बात है, कुछ तो बतलाइये।"

मैंने देखा, अब मुझे कुछ कहना ही चाहिये। परन्तु ऐसी कोई बात मैं कह न सका, जो मेरी प्रेरणा से भिन्न होकर कृत्रिमता से लदी होती। इतना ही मैंने कह दिया—"सच बात तो यह है कि कई दिनों से मैं तुमको समझने की चेष्टा में हूँ। परन्तु अभी तक मैं कुछ समझ नहीं सका हूँ।"

चन्दा ने प्याला खाली कर दिया। कुर्सी से उठकर अब वह दर्पण के सामने जा पड़ी। एक क्षण अपना मुख देखकर साड़ी से सिर को ढकती हुई बिल्कुल नववधू-सी बनकर बोली—"मैं इस समय कोई गम्भीर बात नहीं सुनना चाहती।"

मैंने लक्ष्य किया कि चन्दा की मुद्रा इस समय कुछ म्लान हो गयी है। मैं अभी उसकी ओर कुछ और देर तक शायद देखता रहता, परन्तु वह घूमकर वातायन के पास जाकर खड़ी हो गई और बाहर का दृश्य देखने लगी। विषय बदलने की दृष्टि से मैंने पूछा—"आज तो जौहरीजी को पथ्य दिया गया है न ?"

सिर लचाये हुए वह बोली—"पथ्य देकर ही मैं यहाँ आयी थी।"

अब तक उसका सिर साड़ी से पूर्ववत् आवृत था। पर अब साड़ी पुनः कन्धे से आ लगी। केवल यह जानने की इच्छा से कि वह बाहर

देख क्या रही है, मैं उसके पास थोड़ा अन्तर देकर खड़ा हो ही रहा था कि तुरन्त घूमकर वह मेरे दायें ओर हो गयी और एकदम से सीधा प्रश्न कर बैठी—"अच्छा बिहारी बाबू, आप तो मुझे सदा के लिये भूल ही चुके थे। उस दिन मैंने ही आपको उस घटना का स्मरण दिलाकर पुनः आपसे जो यह निकटता स्थापित कर ली, इस पर आपके मन में कभी कुछ आया ?

बात कहते-कहते उसकी प्रसन्न मुद्रा कुछ ऐसी झलक उठी कि मैं उसे देखता रह गया।"

मैंने कह दिया—"हाँ, इसमें तो दूसरा मत नहीं हो सकता। पर यहाँ हम यह क्यों भूल जायँ कि आज भी हम दूर-ही-दूर खड़े हैं। निकटतम होने की सम्भावना आज भी तो नहीं है। मैं तो बल्कि कहने ही वाला था कि अब मुझे विदा होने की अनुमति दें, तो अच्छा हो।"

तत्काल उसकी मुद्रा गम्भीर हो उठी। बोली—"अगर मैं ऐसा जानती···।"

उस समय वह और आगे कुछ कह न सकी।

दूसरे दिन सायंकाल की बात है। हम लोग जौहरीजी के कमरे में बैठे हुए चाय पी रहे थे। अन्य अवसरों की अपेक्षा आज की बैठक काफ़ी गरम थी। इसका एक कारण यह भी था कि दोपहर को ही दो नौकरों के साथ रम्भा आ गयी थी। वह वय में उर्वशी से कुछ अधिक है। शरीर से भी कुछ अधिक माँसल। वर्ण श्वेत गुलाब का-सा। नयनों में घना काजल आँज रक्खा था। यों भी उसके नयन असाधारण रूप से बड़े हैं। कानों में लटकते झूमरों के स्थान पर सफ़ेद मोतियों से जड़े टॉप्स। भाल पर लाल टिकुली सदा लगाये रहती है। परिधान रंगीन न होकर श्वेत रहता है। बातें करने की अपेक्षा सुनती अधिक है। उर्वशी ने जब मेरा परिचय कराया, तो वह हाथ जोड़कर बोली—"आप सब तरह से अपने

बन्धु हैं। ऐसे अवसर पर आप न आ जाते, तो हम लोगों के सुहाग की रक्षा कैसे होती !"

मैंने देखा, उर्वशी के भीतर जिस स्थान पर निरन्तर द्वन्द्व छिपा बैठा रहता है, इसमें वहाँ एक अटूट निष्ठा का निवास है। जो कुछ भी इसे प्राप्त है उसको यह पूर्ण मानती है। कमती-बढ़ती या पूरे-अधरे का वहाँ जसे कोई प्रश्न ही नहीं है। अभाव के स्थान को संतोष और तृप्ति ने अधिकृत कर रखा है। उसको इस रूप में देखकर मेरे भीतर श्रद्धा उत्पन्न हो आयी।

मैंने उत्तर में कह दिया—"कृतज्ञता के इतने बड़े दम्भ का पात्र मैं नहीं हूँ। रक्षा की है जौहरीजी की अपनी जीवनी-शक्ति ने। हम लोग तो उसके रास्ते चलते एक पथिक की भाँति अपनाये हुए साधन हैं। माना कि साधनों के अभाव में मनुष्य असहाय हो जाता है। किन्तु फिर समाज और है किस दिन के लिये ?"

जौहरीजी मेरी ओर देखकर मुस्कराने लगे। अन्तर का द्वार खोलते हुए बोले—"खूब ! एक मित्र तो ऐसा मिला, जो बात-बात में ईश्वर की दुहाई नहीं देता। मनुष्य के सारे प्रयत्न, साहस और हौंसलों को ये लोग पहले एक जगह गिरवीं रख देते हैं, उसके बाद मुँह खोलते हैं। मैं तो इनसे ऊब गया हूँ।"

कल दोपहर को जब से चन्दा के टपकते हुए आँसू देखे हैं, तब से भीतर-ही-भीतर एक ज़हर-सा भर गया है। बारम्बार घूम-फिरकर एक ही बात अन्तःकरण से फूट पड़ना चाहती है। यह धर्म क्या चीज़ है जी ? क्या यह इसलिये है कि मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छाओं को गला घोंटकर जिये ?

अतएव जौहरीजी की बात मुझे अत्यन्त प्रिय मालूम हुई; यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि उनका जीवन प्रतिक्रियाओं से भरा हुआ है।

कुछ स्थिर होकर रम्भा के कन्धे से लगकर चन्दा बोली—"चलो, तुम्हारे मन का एक आदमी तो हमारे वर्ग में मिला। पर हम तो अबला

ठहरीं। न हमारे संस्कार ऐसे हैं, न हमारी सीमाएँ ऐसी कि हम इच्छाओं को उछालकर चल सकें।"

संभव था कि चन्दा इस सिलसिले में आगे भी कुछ कहती, किन्तु उसी क्षण उठती हुई रम्भा बोल उठी—"आप से भेंट खूब हुई भाईजी। अभी तो आप कुछ दिन रहेंगे ही। फिर बातें होंगी।"

"कहाँ ? कल ही आप जाने की अनुमति माँग रहे थे। अच्छा हुआ जो तुम आ गयीं। अब अपनी बहिन की अनुमति पाये बिना तो जा नहीं सकते।"—कहती हुई चन्दा बजाय मेरी ओर देखने के जौहरीजी की ओर देखने लगी।

तब जैसे अधिकार और अहंकार के स्वर में जौहरीजी बोले—"जी, अभी परसों आप से परिचय हुआ है और आज ही आप चले जाना चाहते है। और इजाज़त माँग रहे हैं उनसे, जो घड़ी-दो-घड़ी की बातचीत के बाद अपने बनाव-शृंगार की ताज़गी के लिए मैदान छोड़कर भाग खड़ी हुआ करती हैं। अभी मेरी और आपकी बातें तो हुई ही नहीं। इतमीनान से बैठने का भी मौका नहीं मिला। अभी आपको कम-अज़-कम तीन हफ्ते और रहना है। चाहे इस कान से सुनिये, चाहे उस कान से।...आपको विम्टो की एक दर्जन बोतलें मँगवा देना रम्भा रानी। समझती हो कि नहीं ? अच्छा, मैं अब आराम करूँगा भाईजान।"

चन्दा खिलखिलाती हुई हँसने लगी। दरवाजे से गुजरती हुई वह मेरे आगे चल रही थी, एक बार बीच में ठिठककर बोली—"अभी इतमीनान से बैठने का मौक़ा तो आया ही नहीं। इस बात का क्या अर्थ हुआ, सो जानते हैं ?"

मन में आया कि पूछ लूँ—'अर्थ लगाते समय पुरातन संस्कारों की दुहाई तो न दोगी ?' किन्तु फिर यही सोचकर इस बात को टाल गया कि जाने भी दो। अपने को इतना सस्ता न बनाओ !

आज रात को मैंने फिर वंशी बजाई। कई दिनों से न तबियत में उत्साह था, न वैसा वातावरण। आज चन्दा ने भी याद दिलायी थी।

कहा था—"यह वंशी बेचारी क्या कहती होगी !" मेरे मुँह पर आते-आते रह गया—जो सपनों में चन्दा देखा करती है।

उसने फिर पूछा—"बोले नहीं बिहारी बाबू ?" मैंने कहा—"जाने भी दो। वह कुछ नहीं कहती। कहेगी क्या ? मनुष्य जब अपनी बात कहते डरता है, अपना हृदय खोलते संकुचित होता है और रात-दिन अपने नाश के ही खेल खेलते रहने में धर्म और आदर्शों की रक्षा मानता है जो चेतन प्राणी है, तब वंशी बेचारी क्या करे ? वह तो फिर भी जड़-पदार्थ ठहरी।"

दृष्टि में अन्तर पड़ गया, भृकुटियों पर तनाव आ गया। कपोलों पर लाली दौड़ गयी, निचला होंठ हिल उठा, मुँह खिड़की के बाहरी दृश्य की ओर से हटकर एकदम से सामने आ गया। कुछ खिचाव-सा शरीर भर में व्याप्त हो गया। एक ऐंठन-सी झलक पड़ी। बोली—"क्या मतलब ?"

मैंने धैर्य्यपूर्वक कहा—"बैठो तो बतलाऊँ, क्या मतलब है। बचपन की एक घटना का स्मरण हो आया है।"

वह सामने बैठ गई।

मैंने कहना शुरू किया—"मैं उन दिनों गाँव में रहता था। घर में माता-पिता बहन के अतिरिक्त बड़े भाई भी थे। हम लोगों का एक कच्चा घर था। दरवाज़े पर दो बैलों की जोड़ी। एक नीला बैल उसमें बड़ा तेज़ था, सुन्दर भी। डील-डोल में काफ़ी ऊँचा और तगड़ा; पर सींग बहुत छोटे। चाल में जैसा तेज़, प्रकृति में वैसा ही उग्र। एक बार नौकर ने दोनों के आगे दाना छोड़ने में ज़रा-सी भूल कर दी। पहले उसने दूसरे बैल के आगे दाना छोड़ दिया। पर उसके आगे घर के भीतर से दाना लाकर छोड़ने में उससे कुछ देर हो गई। उसके बाद जब वह उसके आगे दाना छोड़ने को आया तो उसने एक अद्भुत दृश्य देखा। एक ओर वह नीला बैल दूसरे बैल की जगह डटा हुआ उसके आगे का दाना साफ़ कर रहा था, दूसरी ओर उसी ढेर में खून छितराया हुआ था। ध्यान से देखने पर पता चला कि उसने अपनी वह रस्सी तोड़ डाली है, जिसमें वह बँधा हुआ था, जो उसके नथुनों के भीतर से होकर गर्दन की ओर जाती थी। भूसे और दाने के उस ढ़ेर पर उसके नथुनों से अब

भी खून टपक रहा था। उसने यह भी देखा कि रस्सी तोड़ने में उसके नथुनों के भीतर घाव हो गया है !

'बड़े भैया उस समय जीवित थे। वे उस बैल को बड़ा प्यार करते थे। उन्होंने जब यह हाल सुना तो वे तुरन्त उसके पास आये। उसकी पीठ ठोंकी। गर्दन को हाथों से सुहलाया और उसका मत्था चूम लिया। नौकरों को बुलाकर डाँटते हुए बोले—"अगर तुम मेरे इन दोनों हाथों के भावों (सेंटीमेंट्स) की इज़्ज़त नहीं कर सकते, तो तुम आदमी नहीं हो और अधिक मैं तुमको इस समय कुछ नहीं कहना चाहता।"

मैं उस समय वहाँ उपस्थित था और मैंने स्पष्ट देखा था, उनकी आँखों में अश्रु भर आये थे।

सुनकर चन्दा स्तब्ध हो उठी। मैं भी चुप हो गया। दो मिनट बाद मैंने मूकता भंग करते हुए कहा—"मतलब यह कि आज हमारे समाज में ऐसे कितने व्यक्ति हैं, जो अपना अधिकार स्थापित करने में उस बैल की भी समता कर सकें, जो विवेक में सर्वथा हीन कोटि का था।...मतलब यह कि जो व्यक्ति अपने जीवन से असंतुष्ट होने पर भी दम घोंट-घोंट कर रहता है, विद्रोह नहीं करता, वह उस बैल से भी गया-गुज़रा है ! मतलब यह कि...।"

मैं अभी और भी कुछ कहने जा रहा था कि चन्दा ने कानों पर हाथ रखकर कहा—"बस कीजिये बिहारी बाबू; इसके आगे कुछ मत कहिये। कहने की ज़रूरत नहीं है।"

दूसरे दिन की बात है। मैं जौहरीजी के साथ चाय पी रहा था। आज हमारी गोष्ठी में चन्दा नहीं थी। प्रातःकाल से ही उससे भेंट नहीं हुई थी। पूछने पर मालूम हुआ था—कुछ तबियत खराब है, शैया से उठी नहीं।

रम्भा से नया परिचय हुआ था। पर वह बात कम करती थी। जौहरीजी आज कुछ और स्वस्थ थे। उन्हीं से देर तक बातें होती रहीं। घुमा-फिराकर बारम्बार इसी विषय को समझाना चाहते थे कि उन्होंने ये तीन बीवियाँ क्यों रख छोड़ी हैं। मैं इस सम्बन्ध में आलोचना करना नहीं चाहता था। मुझे अब विदा लेनी थी। चलते-चलाते किसी

तरह की कटुता मैं अपने बीच उत्पन्न नहीं करना चाहता था। संयोग से रम्भा ने एक बात कह दी। वह बोली—"मुझको तो आप देख ही रहे हैं। मुझे न बड़ी बहू से कोई शिकायत है, न छोटी से। बल्कि छोटी के बिना तो मेरा जीवन ही सूना हो जाता।"

इस बात का कुछ उत्तर न देकर मैं चुप ही रहा। चुप तो रहा, किन्तु बात के एकाङ्गीपन को लेकर किंचित् हास मेरे मुख पर आ ही गया। जौहरीजी ने इसको लक्ष्य किया। तपाक से बोले—'बको मत, सब समझता हूँ। यह सरासर चापलूसी है, जिससे मैं नफ़रत करता हूँ। असल बात कुछ और है। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि इन लोगों में कभी-कभी घोर कलह भी हुआ है। साथ ही मैं यह भी क्यों न कह दूँ कि यदि ये परस्पर सद्भाव ही रखती है, तो भी यह अपवाद है। साधारणतया ऐसा नहीं होता। खैर, इस विषय को यहीं छोड़ दीजिये। मैं मानता हूँ कि समाज की दृष्टि में मैं किसी प्रकार निरपराध नहीं ठहर सकता। लेकिन मैं दूसरा उदाहरण आपके सामने रखता हूँ। मेरे एक मित्र हैं। पहले एक हाईस्कूल में हेडमास्टर थे। अब वह स्कूल इंटरकालेज हो गया है और वे उसमें प्रिंसिपल हैं। नाम जानकर क्या कीजियेगा? कल्पना कीजिये, उनका नाम श्रीकृष्ण है। उनका विवाह हुए बारह वर्ष हो गये। दो-तीन संतानें भी हैं। बड़ा लड़का नौ वर्ष का है और स्कूल में पढ़ रहा है। छै और चार वर्ष की दो लड़कियाँ और हैं। पत्नी और उन बच्चों को त्यागकर अभी दो महीने पूर्व उन्होंने एक कश्मीरी युवती के साथ विवाह कर लिया है। बोलिये, आप क्या कहते हैं? उनको जाति से बाहर कर दीजियेगा? जाति में रहकर ही उन्हें क्या मिल जाता? जाति उनके लिए क्या करती है? मैं तो समझता हूँ कि स्वतंत्र विचार···और इच्छा-शक्ति···रखनेवाले व्यक्तियों की एक अलग जाति होती है। और मैं भी उसी जाति का हूँ। समाज के नियमों का दम्भ मैं खूब जानता हूँ। अगर मैं केवल मेनका के साथ विवाह करने के बाद भी इसी रम्भा को प्रेमिका के रूप में रखता, तो समाज की दृष्टि में क्या अपराध करता? फिर मेरी अपनी एक अलग स्थिति भी तो है। मैं सोच-समझकर चलने का आदी कभी नहीं रहा। पैर जिधर पड़ जायँ, उसी ओर मेरा पथ

रहा है। प्रिंसिपल साहब पर जिम्मेवारी इस बात की है कि वे बच्चों के भरण-पोषण का खर्च देते रहें। सो उन्हें देना ही पड़ेगा। इसके बाद कुछ नहीं। जीवन में जब तक रस है, आकर्षण और तृप्ति है, तभी तक उसके साथ हम अपना सम्बन्ध मानते हैं। उसके बाद सब बेईमानी है।"

रम्भा इस पर बिगड़ उठी। बोली—"यह बेईमानी नहीं सरासर बेईमानी है। मनुष्य का यदि यही रूप मान्य हो, तो वह जानवरों की कोटि में चला जायगा। मैं इसका कभी समर्थन नहीं कर सकती।"

इसी समय द्वार का पर्दा हिला और चन्दा सामने आ पहुँची। दृष्टि पड़ते ही मैंने लक्ष्य किया, आँखों पर लाली छायी हुई है। मुख पर उल्लास के स्थान पर गम्भीरता की छाप है। ऐसा जान पड़ा, मानों कई दिनों की बीमारी के बाद उठी है। एक बार यह भी सोचा कि हो-न-हो, चन्दा आज रात-भर सोई नहीं है। भीतर-ही-भीतर जैसे रोती रही है। जल के बिना जैसे मछली तड़पती है, इसकी रात भी पलँग पर व्याकुल हो-होकर करवटें बदलते, रोते-कलपते बीती है।

इसी समय रम्भा ने पूछ दिया—"कैसी तबीयत है?" और कथन के साथ ही बदन पर हाथ रख दिया।

ऊपर से अन्दर की स्वस्थता का भाव प्रकट करने की इच्छा से चन्दा के अधर थोड़े खिलने को हुए, किन्तु फिर आप ही रुक गये। बात टालती हुई-सी एक बार भृकुटियों पर बल देकर बोली—"तबीयत को क्या होना है! रात को नींद ज़रा देर-से आयी। इसीलिए···।"

रम्भा और चन्दा की बात से जौहरीजी के कथन के ताव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे बिना रुके अपनी बात कहते ही गये। हाँ, बीच में एक बार ज़रा-सा चन्दा की ओर देख-भर लिया।

इसी क्षण जौहरीजी बोले—"समर्थन की परवाह करके मैं बात नहीं करता। जानवरों की कोटि में ज़िन्दगी की जो ताजगी है, मैं उसे मनुष्य के लिए आवश्यक मानता हूँ। मनुष्य का कोई गुण जानवरों से मिल जाता है, यह कह देने से ही न तो मनुष्य जानवर हो जायगा—न जानवरों में इस गुण की अधिकता होने के कारण वह गुण ही अवगुण।"

रम्भा बोली—"तुम्हारे पास एक ही राग है—भोग। तुम नहीं

जानते, त्याग भी कोई चीज़ है। मैं तो त्याग में भी एक तृप्ति देखती हूँ। तुम नहीं देख सकते, न देखो। मैं देखती हूँ।"

जौहरीजी मुस्कराने लगे। बोले—"यह तुम्हारा निजी स्वर नहीं है। इसके अन्दर तुम्हारे संस्कार बोल रहे हैं।"

"तुम निजत्व को संस्कारों से परे देखते हो" रम्भा बोली—"मैं नहीं देखती।···लेकिन हमारे बिहारीभाई तो कुछ बोल ही नहीं रहे। केवल तमाशा देख रहे हैं।" बात पूरी करती हुई इस बार वह भी मुस्कराने लगी।

जौहरीजी बोले—"हाँ भई, यह क्या बात है? आप क्यों चुप हैं?"

मैं कुछ कहने जा ही रहा था कि चन्दा बोल उठी—"वे इस समय दूसरे लोक में हैं। घर की याद हो आई है। आप लोग इन्हें जाने ही नहीं देते।"

अब रम्भा से न रहा गया। बोली—"यह तुम्हारा मेरे साथ अन्याय बहूरानी। मैं इन्हें अभी दस दिन तो जाने न दूँगी।"

मुझको भी एक धक्का लगा। स्पष्ट जान पड़ा कि चन्दा मुझे विदा करना चाहती है। तब भीतर-ही-भीतर संचित हुई सारी मिठास एक कड़ुवाहट के रूप में परिणत हो गयी। सोचने को विवश हो गया कि सब कोरी बनावट थी। काम निकल जाने के बाद संसार में ऐसा ही होता है। चन्दा विश्व की इस रचना का अपवाद नहीं है। कभी-कभी भीतर जो एक सात्विक भावना उभर उठती थी कि क्यों अपने को इस तरह गिराया जाय, उसको बल-सा मिला। फलतः मैं सोलह आना आदर्शवादी बन गया। शान्त गम्भीर भावना से मैंने कह दिया—"नहीं, अब और रुकना मेरे लिए सम्भव नहीं है। आज ही सायंकाल की ट्रेन से चला जाऊँगा। ···पर जो विषय इस समय यहाँ विवाद के रूप में उपस्थित है, उसके प्रति अपनी सम्मति भी आपसे प्रकट कर देना चाहता हूँ।···आज बहु विवाह और विवाह-विच्छेद को लेकर हमारे देश में जो घटनाएँ हो रही हैं, वे वास्तव में उस जड़ता के विरोध में हैं, जिससे आज हम सब बुरी तरह बँधे—बल्कि जकड़े—हुए हैं। विवाह की आधुनिक परिपाटी ने हमारे जीवन को निर्जीव कर रक्खा है। क्षमा कीजियेगा, मैं इस विषय

की समीक्षा वैज्ञानिक दृष्टि से करना चाहूँगा ! अगर हम यह जान लें कि पुरुष और नारी का सम्बन्ध जितना मानसिक है, शारीरिक उससे किसी प्रकार कम नहीं है; तो इस विद्रोह में हमें पीड़ित मानवता के चीत्कार और जागरण के ही चिह्न मिलेंगे। दो में से कोई भी एक जब दूसरे को तृप्ति नहीं दे पाता, तभी वह उसके लिए असंतोष और अतृप्ति का कारण बनता है और अतृप्ति देकर भी जो संस्कृति मनुष्य को कोरे त्याग का उपदेश देती है, वह आधारहीन, दुर्बल और अन्दर से खोखली है। जब मनुष्य उसका निर्वाह नहीं कर पाता, तभी वह साथी के प्रति अविश्वास का पात्र बनने को विवश होता है।"

रम्भा इसी क्षण बोल उठी—"परन्तु आपने मानसिक तृप्ति की बात भी तो साथ-ही-साथ कही थी। मैं उसी को आध्यात्मिक मानती हूँ।"

मैंने कहा—"हाँ, वह मानसिक तृप्ति भी आकर्षणों से होती है। उसका सम्बन्ध सौन्दर्य-भोग के साथ है। ऐसा भी होता है कि कोई नारी किसी परपुरुष के गुणों पर ही मुग्ध होकर कभी उसका सान्निध्य चाहती हो, केवल उसकी संगति। पर आज की विवाह-प्रथा की सर्वस्व स्वाहामयी परिपाटी ने इसको भी दुर्लभ कर दिया है। ऐसा भी होता है कि एक सेक्स शरीर से ही किसी प्रकार हीन, असाधारण या अति साधारण होकर विरोधी सेक्स के अयोग्य बन गया हो। ऐसी दशा में दूसरे को अपना साथी चुन लेना उसका एक स्वाभाविक मानवीधर्म हो जाता है। पर आज की विवाह-रीति ने उसको भी कलुष का रूप दे रखा है। जिस समय विवाह-प्रथा का आविष्कार समाज की एक अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति का कारण बना, उस समय का समाज एक तो आज के समाज से नितान्त भिन्न था, दूसरे उस समय विवाह-प्रथा में भी ऐसे प्रतिबन्ध न थे। आज के इन प्रतिबन्धों ने ही इस विद्रोह की सृष्टि की है। इसलिए जब तक समाज का यह संगठन ध्वस्त नहीं होता, तब तक आदर्श विवाह-सम्बन्धों की कल्पना करना केवल स्वप्न देखना है।"

रम्भा से न रहा गया। वह बोली—"क्षमा कीजियेगा, यह सोलह आना वस्तुवादी दृष्टिकोण है।"

मैंने देखा, उस समय चन्दा का मुख बात-की-बात में उज्ज्वल हो

उठा। एक बार उसके अधरों में कम्पन भी हुआ। क्षणभर के लिए एक लघुविकसित-हास भी उस पर झलक पड़ा। परन्तु फिर क्षणभर के बाद ही उस पर गम्भीरता की गहरी छाया स्पष्ट देख पड़ने लगी।

कुछ ठहरकर जौहरीजी बोले—"मैं भी इसी वर्ग का हूँ बिहारी बाबू। मुझको आप दूर न समझियेगा।"

बैठक यहीं विसर्जित हो गयी।

जौहरीजी के साथ यह हमारी अंतिम बैठक थी। सायंकाल की ट्रेन से मैंने फिर आगरा आकर गोपालदादा का साथ पकड़ा। चलते समय जौहरीजी बोले—"मैं आपको रोक नहीं सकता; क्योंकि मैं स्वयं इसी प्रकृति का हूँ। किन्तु हम लोग फिर मिलेंगे, यह निश्चित है। आपकी कृपा का मुझे सदा स्मरण रहेगा। आपकी भेंट और मित्रता से मैं गौरव का अनुभव करूँगा।"

रम्भा मुझे स्टेशन तक भेजने आयी थी। बार-बार कहती थी—"अब की बार बहनजी को भी ज़रूर साथ लाइयेगा! किसी तरह का संकोच न कीजियेगा।" कथन के साथ ज़बरदस्ती ढेर-के-ढेर फल डोलची में रखवा दिये; चन्दा के सम्बन्ध में कई बार कहा—"बहूरानी को आपका जाना बहुत अखर गया। जीवन में कई बार ऐसे मौक़े आये हैं, जब पहले उसी ने मेरा विरोध किया, परन्तु बाद में फिर उसी को सब से अधिक दुःख हुआ। मैं जानती हूँ, आपको इतनी जल्दी भेजने में उसी का आग्रह है, उसी का अन्तर्द्वन्द।"

रम्भा उस समय क्या कह रही थी, यह अच्छी तरह समझ में आ रहा था। पर यह आत्म-प्रवंचना है। जीवन का क्षय इसी तरह होता है।

जब ट्रेन चलने लगी, तो रम्भा की आँखें छलछला आयीं।

चन्दा ने घर से ही विदा दी। एकान्त में वह मुझसे नहीं मिली। विदा के क्षण उसने गोस्वामी तुलसीदास की एक चौपाई सुना दी—"मिलत एक दारुण दुख देहीं—बिछुड़त एक प्राण हर लेहीं।"

यों वह उस समय परम प्रसन्न देख पड़ती थी। मैं मन-ही-मन उसके विषय में बहुत दिनों तक यही सोचता रहा कि उसने उस समय अटूट संयम का परिचय दिया। मैं उससे ऐसी आशा नहीं करता था।

मैं नहीं जानता था, वह ऐसी दृढ़चरित्र रमणी है। मैं तो उसके लिए कुछ और ही सोचता था—कुछ और ही।

आगरा आकर जब मैं गोपालदादा के मिला तो कई दिनों तक मेरी स्थिति जलहीन मछली-सी हो गई। गोपालदादा ने मुझसे सारा हाल-चाल जानना चाहा। पर मैं सब गोल कर गया। सदा मैंने यही उत्तर दिया—"आत्मीय लोग हैं और अच्छी तरह हैं। कोई ख़ास बात नहीं है।"

इस यात्रा ने मुझे जड़ बना दिया है। जितना आनन्दित हुआ, उससे कहीं अधिक दुःखी। जितनी मिठास इसने मुझे दी, उससे कहीं अधिक कटुता। जीवन में अब एक ऐसी उदासीनता छाकर रह गयी है कि सारा विश्व बिल्कुल व्यर्थ जान पड़ता है। किसी काम में जी नहीं लग रहा है। मकान, दरवाजा, गली, सड़क, शहर, इष्टमित्र, परिचय और आत्मीयता मेरे लिए कहीं कुछ अर्थ नहीं रखती। जान पड़ता है, सारा विश्व मानवना के नाते एक महाशून्य है। एक छोर से दूसरे छोर तक सन्नाटा-सा छाया है। घरों और बस्तियों के स्थान पर समाधियाँ बनी हैं। केवल कुत्ते और सियारों के स्वर सुनाई पड़ते हैं—केवल सर्पों की लपलपाती जिह्वाएँ और हिंसक जन्तुओं की नाना भयावनी चेष्टाएँ मैं देख रहा हूँ।

परन्तु आज अभी-अभी चन्दा का यह तार मुझे मिला है—

"जौहरीजी एक अभिनेत्री के साथ कश्मीर की सैर को गये हैं। तुम फ़ौरन चले आओ, अगर मुझे जीवित रखना चाहते हो।"

उर्वशी

द्वारा हिमालय होटल, मसूरी।

अब ?

● ● ●